सुखानन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

का

प्रथम पुष्प

सत्यार्थप्रकाश और जैनधर्म

समाज में

लेखक—

श्रीमान स्वामी कर्मानन्द जी

(ब्र० निजानन्द जी)

श्रीमान स्व० सेठ सुखानन्द जी के

प्रदत्त द्रव्य से प्रकाशित

द्वितीय बार	फाल्गुण वीर स० २४७५	मूल्य
१०००	१-३-४६	२)

ग्रन्थकार का परिचय

श्रीमान स्वा० कर्मानन्द जी एक अच्छे कर्मठ, निर्भीक, विद्याव्यसनी गणनीय व्यक्ति हैं आपने २५ वर्ष तक अनवरत आर्यसमाज की सेवा की अपने अनुपम कार्योंसे आर्यसमाज का मस्तक ऊंचा किया आर्य समाज की ओर से जैन, सनातनी, ईसाई, मुसलमानों के साथ सैकड़ों शास्त्रार्थ किये। हजारो सभाओ मे व्याख्यान दिये। समाज का अच्छा प्रचार किया। उपलक्ष मे शास्त्रार्थ केसरी' पद प्राप्त किया।

किन्तु जैन दर्शन की अकाट्य सत्यता का आपके हृदय पर अमिट प्रभाव पड़ा उससे प्रेरित होकर आपने आर्य समाज के चिरस्नेह बन्धन को तोड़ कर आर्य समाज में प्राप्त अपनी ख्याति तथा उच्च प्रतिष्ठा का लोभ संवरण कर जैनधम स्वीकार किया। जैनधर्म में दीक्षित होकर 'भारत का आदि सम्राट, 'धर्म का आदि प्रवर्तक' आदि अनेक अनुसन्धानात्मक पुस्तकें लिखीं है जिनकी भारत के अच्छे गणनीय विद्वानों ने प्रशसा की है।

सत्यार्थ प्रकाश के १२ वें समुल्लास के उत्तर में प्रस्तुत, पुस्तक लिखी है जो कि पाठकों के सामने है वह कितनी उपयोगी, सफल है इसका पाठक महानुभाव स्वय निर्णय करेंगे।

स्वामी जीने अभी कुछ मास पहले सातवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये हैं और अपना नवीन दीक्षित नाम 'निजानन्द जी' रक्खा है, अब आप ब्रह्मचारी निजानन्द जी के रूप मे है। हमारी हार्दिक कामना है कि जो चारित्र आपने स्वीकार किया है उसमे आप सफल हों और उन्नत हों। आपने एक पुस्तक और लिखी है जो कि निकट भविष्य मे प्रकाशित होने वाली है। आशा है और भी उपयोगी ग्रन्थों का निर्माण आप करेंगे।

विनीत:—

अजितकुमार जैन

प्रथम संस्करण का

आद्य वक्तव्य

स्वामी दयानन्द जी सरस्वती आधुनिक युग के एक गणनीय महान व्यक्ति थे हिन्द समाज को निद्रा से जगाने के लिये आपने अथक प्रयत्न किया और उसमें सुधार लाने के लिये जो उचित दीखा उसके करने में उन्होंने कुछ कसर न रक्खी। आपने वैसे तो कई पुस्तकें लिखी हैं किन्तु उन सब में अधिक प्रसिद्ध आपका ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश है सत्यार्थ प्रकाश में आपने प्राय: सभी वैदिक अवैदिक मतों की समालोचना कर डाली है। जैनधर्म की समालोचना भी आपने इस ग्रन्थ के १२ वें समुल्लास में विस्तार पूर्वक की है।

यदि यह समालोचना ठीक होती तो सत्यार्थ प्रकाश सचमुच सत्यार्थ प्रकाश होता और जैन समाज उसका स्वागत करते हुये अपनी त्रुटियों पर विचार करता। किन्तु बात ऐसी न हुई। 'बड़े मनुष्य से भूल भी बड़ी ही होती है, यह कहावत स्वामी जी के विषय मे भी चरितार्थ हुई। आपने जैन सिद्धांत की समालोचना ऐसे उतावलेपन मे की जिससे वे अनेक उपहासजनक भूलें कर गये जैसे कि—

१— सर्वज्ञ न मानने वाले मीमांसक के श्लोकों को जैन ग्रन्थों के श्लोक समझकर उलटी समालोचना कर दी।

२— जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का विपरीत अर्थ समझकर कुछ का कुछ अभिप्राय निकाल बैठे।

३— जैन ग्रन्थों के श्लोकों का अर्थ जो सीधा सरल निकलता था वैसा अर्थ न करके ऊटपटांग अर्थ लिख डाला।

यदि आज स्वामी दयानन्द जी जीवित होते तो अवश्य अपनी इन त्रुटियों का सुधार कर देते। परन्तु उनके अनुयायी आर्यसमाज का ध्यान इन त्रुटियों की ओर दिलाने के लिये अज्ञानतिमिरभास्कर, स्वामी दयानन्द और जैनधर्म, सत्यार्थदर्पण' आदि अनेक पुस्तकें जैन विद्वानों ने प्रकाशित की है परन्तु आर्य समाज ने [illegible] विचार नहीं

किया और उन हास्यजनक त्रुटियों को अब तक ज्यों का त्यों रहने दिया है।

इस पर दिगम्बर जैन सभा डेरागाजीखान तथा दिगम्बर जैन सभा मुलतान नगर की ओर से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब (लाहोर) तथा आर्य प्रादेशिक सभा (लाहौर) को रजिस्टर्ड पत्र दिये गये जो कि इस पुस्तक मे अन्यत्र प्रकाशित हैं किन्तु खेद है उक्त दोनों सभाओं मे से किसी ने भी उत्तर तक देने का कष्ट नहीं उठाया।

यह सब कुछ देखकर आर्यसमाज की निद्रा-भङ्ग करके इस दिशा में कर्तव्य पालन कराने के लिये मैंने इस पुस्तक द्वारा कुछ प्रयास किया है। मेरा दृष्टिकोण अन्य जैन विद्वानों से कुछ अन्य रहा है। अपने इस प्रयास मे मै कहां तक सफल हुआ हूं यह जांचना विद्वान पाठको का काम है। यदि प्रमादवश कही मुझसे त्रुटि हुई हो तो विद्वानपाठक मुझे अवश्य सूचित करें उस त्रुटि का आगामी सुधार हो जायगा।

निवेदक:—

'कर्मानन्द'

परिचय

(प्रथम संस्करण)

इस ग्रन्थ का प्रकाशन जिनके द्रव्य से हो रहा है वे श्रीमान सेठ सुखानन्द जी मुलतान दिगम्बर जैन समाज के गणनीय नररत्न हैं। आपके स्वर्गीय पिता श्रीमान सेठ देवीदास जी गोलेच्छा बहुत उदार, गुप्त दानी एवं सर्वप्रिय सज्जन व्यक्ति थे तथा आपके स्व० ज्येष्ठ भ्राता श्रीमान सेठ शम्भुराम जी भी धर्म-वत्सल एव दीनबन्धु थे। सेठ सुखानन्द जी उनके ही अनुरूप उदारचेता, लोकप्रिय महानुभाव हैं।

श्रीमान सेठ सुखानन्द जी एक ओर तो प्रवीण व्यापारी हैं, रंगके व्यापार मे आपने लाखों रुपये कमाये है, मुलतानमें आप रंग के सर्वोच्च व्यापारी हैं। दूसरी ओर आप सार्वजनिक कार्यकर्ता के रूप में दृष्टिगोचर होते है। मुलतान दिगम्बर जैन समाज के प्रमुखनेता तो आप है ही किन्तु अन्य सार्वजनिक सस्थाओं मे भी अच्छा भाग लेते हैं और अपनी प्रभावशालिनी योग्यता के आधार पर उन संस्थाओं का नेतृत्व करते हैं।

तदनुसार कुछ दिन पहले मुलतानमे जो पजाब प्रांतीय व्यापारी सम्मेलन हुआ था उसके आप स्वागताध्यक्ष चुने गये थे। उस पद को आपने बड़ी अच्छी सुन्दरता के साथ निभाया था। मुलतान नगर की हिन्दू सभा के आप वर्तमान मे उपप्रधान है तथा मुलतान गोशाला के मन्त्री हैं। इसी प्रकार अन्यान्य संस्थाओ से भी आपका अच्छा सम्पर्क स्थापित है।

आपने अपने पूज्य पिता जी स्व० सेठ देवीदास जी तथा स्वर्गीय ज्येष्ठ भ्राता सेठ शम्भुरामजी के स्मारकरूप एक जैन बाग बनवाया है जो कि मुलतान नगर के बाहर पूर्व दिशा मे स्वच्छ वायु मण्डल मे बना हुआ है। यह बाग यद्यपि बहुत विशाल नहीं है किन्तु सुन्दरतामें विशाल अवश्य है। इसमे बना हुआ जैनभवन बहुत सुन्दर है। समय समय पर इस भवन मे तथा इस बाग मे अनेक सभाओं संस्थाओं के अधिवेशन हुआ करते हैं। इसी जैन भवनमे एकचैत्यालय भी बना है जिसकी अभी प्रतिष्ठा होनी शेष है। इस बाग के आस पास ज्ञानस्थल, हिन्दूदङ्गल

व्यायामशाला, रामलीला भूमि, देवपुरा आदि अनेक सुन्दर स्थान विद्यमान है।

सेठ सुखानन्द जी का परिवार भी हरा भरा है। आपके एक बड़े भाई सेठ दासूराम जी हैं जो कि सरल, सज्जन प्रकृति के मिलनसार व्यक्ति हैं। तथा आपके (सेठ सुखानन्द जी के) ६ सुपुत्र हैं। चि० श्रीनिवास सबसे बड़ा है और व्यापार मे सुखानन्द जी को पूर्ण सहयोग देता है, अच्छा व्यापार कुशल है। द्वितीय पुत्र चि०शंकरलाल है जिसने इस वर्ष बी० ए० की परीक्षा दी है। चि० शंकरलाल को सार्वजनिक कार्यों तथा विशेषकर देशसेवा से अच्छी अभिरुचि है। तृतीय पुत्र चि० प्रेमचन्द्र हाईस्कूल में पढ़ रहा है अच्छा होनहार लड़का है शेष तीन पुत्र शैशव अवस्था मे हैं। इस प्रकार सेठ सुखानन्द जी चतुर्मुखी पुण्यफल का अनुभव कर रहे हैं।

आपने प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन स्वन्यायोपार्जित द्रव्यसे किया है। "श्री सुखानन्द दि० जैन ग्रंथमाला" का यह प्रथम पुष्प है। आशा है इस ग्रन्थमाला से भविष्य में और भी अनेक उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन होगा।

१-११-४६ अजितकुमार जैन

द्वितीय संस्करण

(दिवङ्गत श्रीमान सेठ सुखानन्द जी)

प्रस्तुत पुस्तक जिस समय छपकर तयार हो चुकी थी तब ही पुस्तक को प्रकाशित कराने वाले उदारचेता श्रीमान सेठ सुखानन्द जी का अकस्मात स्वर्गवास होगया। आप मंगलवार १२-११-४६ को प्रात: ११ बजे भोजन करके दुकानपर आये थे। और गद्दीपर बैठते ही आराम करने के लिये जरा लेट गये थे। लेटते ही वे सदा के लिये सुखनिद्रा मे सो गये। आपका मुख उस समय स्वाभाविक निद्रामग्न दशा जैसा सौम्य था उस पर न कोई विषाद रेखा थी, न किसी चिन्ता का चिन्ह, और न किसी दु:ख-पीड़ा का निशान।

रोग की चिकित्सा होती है किन्तु अटल मृत्यु चिकित्साकी परिधि से बाहर है। अत सुखानन्द जी का दिवङ्गत आत्मा किस प्रकार लौटकर इस भौतिक शरीर मे आता वह तो अपनी शान्ति, प्रसन्नता, गम्भीरता, मृदुता तथा सर्वप्रियता की सुन्दर छाप अपने मुखमण्डल पर छोड़ कर नव्य भव्य दिव्य भवन मे प्रवेश कर गया। उस पुण्य आत्मा को पाकिस्तान का निर्माण, अखण्ड भारत का विभाजन, पंजाब का बीभत्स हत्याकाण्ड देखना कहां रुचिकर था अत: इन भयानक घृणित व्यापक दुर्घटनाओं के आरम्भ होने से पहले ही सुखानन्द जी सुख आनन्द के साथ चुपचाप महाप्रयाण कर गये।

वे मुलतान नगर के एक अनन्य लोकप्रिय वैभव थे, मुलतान के भूषण थे, जैन अजैन, हिन्दू मुसलमान, छोटे बड़े सबके सुपरिचित प्रेमी थे अत: जिस जिसने आपके स्वर्गवास होने का समाचार सुना तत्काल दौड़ा आया। प्रत्येक व्यक्ति ने आपके अनन्त वियोग पर आंसू बहाये, सुखानन्द जी की उपस्थिति से प्राप्त होनेवाले लाभका अवसान देखकर भारी हानि का अनुभव किया किन्तु सुखानन्द जी का चेहरा मुसकरा रहा था। बुद्धिमान पुरुष कह रहे थे कि "सुखानन्द जी की मृत्यु सुखआनन्द के साथ हुई। मृत्युके समय उन्हें रंच भी शारीरिक तथा मानसिक कष्ट नही हुआ और न उन्होंने किसी से अपनी कुछ सेवा

कराई। ऐसी मृत्यु भाग्यशाली पुण्यात्माओं की हुआ करती है।"

श्रीमान सेठ सुखानन्द जी की अर्थी के साथ विशाल संख्या मे जनसमुदाय था मुलतानकी श्मसान भूमि एक अच्छे विशाल भवन के रूप मे है ५०-६० हजार रुपये की लागत की इमारत वहां बनी हुई है सभी आवश्यक सुविधाएं वहां पर उपलब्ध हैं (थीं) सुखानन्द जी के वियोग मे एक बड़ी शोकसभा वहां पर हुई। तथा एक शोकसभा चौथे के दिन दिगम्बर जैन मंदिर के सामने हुई जिसमे नगर के प्रमुख व्यक्तियो ने भाषण देकर सुखानन्द जी के गुण स्मरण किये तथा उनके महाप्रयाणसे होने वाली मुलतान की महती हानि का गद्गद् शब्दों मे वर्णन किया।

उनके वयस्क सुपुत्र श्रीनिवास तथा शंकरलाल ने अपने पूज्य पिता के स्मरण मे ३५००) साढ़े तीन हजार से कुछ अधिक रुपये दान करने की घोषणा की।

पाकिस्तान बन जाने के कारण १४ अगस्त १९४७ से पहले और पीछे पजाब की हिन्दू जनता पर क्या कुछ बीती वह सबको ज्ञात है। मुलतान जिले मे हिन्दुओ की संख्या केवल जन संख्या की एक चौथाई थी अतः यद्यपि मुलतान नगर सैनिक अधिकारियो तथा जिलाधीश की प्रशंसनीय कार्य कुशलता के कारण सामूहिक हत्याकाण्ड से बचा रहा किन्तु उसके गाव न बच सके। अस्तु।

विवश होकर अन्य हिन्दू जनता के समान दिगम्बर श्वेताम्बर जैनो को भी अपने विशाल तीन मंदिर, दो बाग तथा अनेक सुन्दर भवन, दुकान, भूमि आदि छोडकर मुलतान से आना पडा परन्तु मंदिरो का समस्त सामान (पूज्य प्रतिमाएं, शास्त्र भण्डार, उपकरण आदि) सुरक्षित रूपमें वीर युवक निकाल कर ले आये (मुलतान मंदिर का समस्त सामान जयपुर के शान्तिनाथ मंदिर मे है और डेरागाजीखान के मंदिर का सामान देहली के लाल मंदिर मे रखा है।)

इस विकट संकट काल मे स्व० सेठ सुखानन्द जी के सुपुत्र श्रीनिवास तथा शंकरलाल ने जनता को विभिन्न ढंग से अच्छी आर्थिक सहायता दी।

मुलतान से आकर श्रीनिवास शंकरलाल ने देहली मे रंग की 'देवीदास सुखानन्द जैन' तथा 'प्रेमचन्द्र सतीशकुमार जैन' नाम की दो दुकानें खोलीं। इसके सिवाय बम्बई मे एक अन्य व्यक्ति के साझे मे "कोल-

म्बिया केमी कलर इण्डस्ट्रीज लिमीटेड" नामकी एक रंग की कंपनी बनाई जिसका C. C. I. मार्के का रंग चल रहा है

चि० प्रेमचन्द्र (सेठ सुखानन्द जी का तृतीय पुत्र) भी अब व्यापार मे सहयोग देने लगा है।

सेठ सुखानन्द जी मिलनसार, निरभिमानी, शान्त, हंसमुख, उदार व्यक्ति थे। बिना किसी प्रेरणा के स्वयं आगे आकर लेन देनके झगड़ों, पारस्परिक कलह आदि को सुयुक्ति, न्याय से मिटाकर शान्ति स्थापित कर देते थे। उचित अवसरपर दान देकर अपनी न्यायोपार्जित लक्ष्मीका सदुपयोग करते रहते थे। उनके उन गुणों की छाया किसी अंश में कुछ कम और किसी अंश मे उनसे भी अधिक उनके सुपुत्रों मे आई है, श्रीनिवास और शंकरलाल दोनो भ्राता राम लक्ष्मण के समान स्नेह से रहते हैं और चातुर्य से व्यापार कर रहे हैं तथा लोकोपकारक कार्यों में समुचित भाग लेते हैं, अपने आदर्श पिता की आदर्श सन्तान है। अपने पूज्य पिता के स्मरण में उन्होंने इस पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित कराया है। इसके प्रारंभिक ५६ पृष्ठ अन्य प्रेस में छपे हैं। यथा समय यथेष्ट कागज प्राप्त न हो सकने के कारण तथा अन्य साधनों की कमी से छपाई मे कुछ थोड़ी सी त्रुटि रह गई है। विवशता का ध्यान रखकर पाठक महानुभाव क्षमा करें।

अजितकुमार जैन शास्त्री,

अकलंक प्रेस,

सदरबाजार, देहली।

सत्यार्थप्रकाश और जैनधर्म—

स्वर्गीय श्रीमान सेठ सुखानन्द जी जैन गोलेच्छा
(मुलतान नगर)

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

सत्यार्थप्रकाश और जैनधर्म

[१]

स्वामी दयानन्द जी सरस्वती

श्री स्वामी दयानन्द जी वर्तमान समय के युग प्रधान व्यक्तियों में से एक हैं। उनके हृदय में हिन्दू जाति एवं भारत भूमि के लिये अगाध प्रेम था। उन्होंने इनकी उन्नति के लिये शक्ति भर प्रयत्न भी किया। परन्तु दुख है कि ऐसे महापुरुष का प्रामाणिक जीवनचरित्र आज तक न बन सका। आर्यसमाज ने आज तक जितने भी जीवन चरित्र लिखे हैं वे सब निराधार कल्पनाओं के आधार पर लिखे हैं। उन्होंने स्वामी जी के स्वहस्त-लिखित निज जीवन चरित्र के आधार पर ही अपना महल खड़ा किया है। किन्तु स्वामीजी के हस्त लिखित भी दो जीवन चरित्र हैं।

१- यह जीवन-चरित्र आर्यसमाज फर्रुखाबाद की तरफ से पण्डित गणेशदत्त जी ने छपवाया है।

२— यह जीवन-चरित्र स्वामी जी ने 'थियासोफिस्ट' पत्रमें छपाया था। इसका उर्दू अनुवाद सम्वत १९४५ में दलपतराय जगराव वालों ने छपवाया था।

इन दोनों में बड़ा अन्तर है। इसकी समालोचना पं० जगन्नाथ जी मुरादाबाद वालों ने की थी, जो कि वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई में सम्वत्

१९४४ वि० में छपी थी।

(जन्मस्थान)

बाबू देवेन्द्रनाथ जी द्वारा लिखित तथा बाबू घासीराम जी द्वारा सम्पादित स्वामी जी के जीवन चरित्र में लिखा है कि स्वामी जीने पूनेमें व्याख्यान देते हुए कहा था कि मैं "ध्रांगध्रा" रियासत की सीमा का रहने वाला हूं। तथा बड़ोदे में एक बहुत बड़े व्यक्ति से स्वामी जी ने अपने को "बाँकानेर" रियासत का बतलाया था। सम्भव है किसी और जगह किसी अन्य रियासत का नाम भी बताया हो। लाहौर के व्याख्यानमें भी उन्होंने जीवन-चरित्र बताने की कृपा की थी और वह लिखा भी गया था परन्तु उसको नौ दो ग्यारह कर दिया गया।

अभिप्राय यह है कि स्वामी जी के जीवन-चरित्र व जन्म स्थान सम्बन्धी जो कुछ भी अभी तक लिखा गया है वह सब कल्पनामात्र है, उसमें सत्य का अंश कुछ भी नहीं है। इसका कारण स्वामी जीका हस्त-लिखित जीवन-चरित्र है, उसी को आदर्श मानकर आर्य भाइयों ने कुछ खोज की और उसी के आधार पर अपना काल्पनिक महल बना लिया।

परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि वे सब हस्त-लिखित जीवन-चरित्र वास्तविक नहीं है। क्योंकि स्वामी जी ने स्वयं ही पृथक २ स्थानों पर अपने को पृथक रियासतों का निवासी बताया है। हमारा अपना पूर्ण विश्वास है कि उपरोक्त मोरबी, ध्रांगध्रा, बाकानेर आदि सब रियासतों का नाम केवल लोगो को उत्तर देकर चुप करने मात्र के लिये प्रयुक्त किया गया था। इन रियासतों की तो बात ही क्या है, स्वामी जी तो काठियावाड़ के भी रहने वाले नहीं थे।

उसी बाबू देवेन्द्रनाथ जी द्वारा लिखित एवं बाबू घासीराम जो प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा यू०पी० द्वारा सम्पादित जीवन-चरित्र मे इस के अनेक प्रमाण वर्तमान है। उसके प्रथम अध्याय में ही लिखा है कि बहुत से लोग यह विश्वास नही करते कि 'दयानन्द काठियावाड़ के रहने वाले थे।'

आगे आपने लिखा है कि बांकानेर नगर मे बाकानेर के राज-कवि सुन्दर जी ने नाथूराम जी को कहा था कि क्या आप यह मानते है कि 'दयानन्द काठियावाड के रहने वाले थे।' नाथूराम जी ने कहा कि 'इसमें क्या सन्देह है।' तो कवि सुन्दर जी ने कहा कि 'आपकी यह धारणा नितान्त मिथ्या है, क्योंकि काठियावाड़मे कभी भी ऐसे पुरुष सिंह का जन्म नहीं हो सकता।'

उसके पश्चात कवि जी ने चोटिला धर्मशाला का अपना अनुभव बताया, जहा आप स्वामी जी से वार्तालाप कर चुके थे।

स्वामी जी की भाषा व रहन-सहन व व्यवहार से आपको यह विश्वास हो गया था कि स्वामी जी काठियावाड़ के रहने वाले नहीं थे। यह घटना स० १८७५ ई० की है।

इस वृद्ध कवि की बात पर अविश्वास करने का किसी ने भी म हस नहीं किया, क्योंकि यह वृद्ध ब्राह्मण स्वामी जी के अनन्य भक्तों में से एक था।

फिर न मालूम क्यों इसको उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। क्या इस लिए कि इसकी बात मानने से स्वामी जी के हस्त-लिखित स्व-जीवन चरित्रों की फिर क्या गति होगी। यही एक प्रमाण नहीं है अपितु इस विषय में अनेक प्रमाण और भी विद्यमान है जो कि इस वृद्ध कवि का अनुमोदन करते है।

इस विषय का विशेष वर्णन हमने "श्रीमद्दयानन्द परिचय" नामक पुस्तक में किया है। वाचक वृन्द वहा देख सकते है।*

जिसको स्वामी जी का स्वहस्त-लिखित जीवन-चरित्र बताया जाता है वह तो प्रारम्भसे लेकर अन्त तक भ्रम में डालने वाला है। उसके भीतर जो शिवरात्रि के दिन जागरण करते हुए स्वामी जी को यह इलहाम [ज्ञान] हुआ कि 'यह तो शिव नहीं हो सकता क्योंकि यह तो अपने ऊपर से चूहों तक को नहीं हटा सकता।" यह भी बिल्कुल गपोड़ा है, क्योंकि जब जयपुर में शास्त्रार्थ किया था उस समय तथा उसके बहुत समय बाद तक स्वामी जी शैव थे, रुद्राक्ष की माला पहनते थे और माला के धारण मात्र से मुक्ति की प्राप्ति मानते थे। यही नहीं, अपितु जयपुर शास्त्रार्थ में जब महाराज को विजय प्राप्त हुई तो उसकी खुशी में आप मनुष्यों और पशुओं तक को बाजारों में माला पहनाते फिरते थे। इस माला ही को मुक्ति का साधन बतलाते थे।

इससे यह सिद्ध है कि बाल्यावस्था की जो चूहेवाली घटना है वह बिना विचारे गढ़ी गई है। क्योंकि यदि वह घटना सत्य मानी जाय तो स्वामी जी को उसी समय से मूर्तिपूजा से घृणा होनी चाहिए थी और वे उसी समय से मूर्तिपूजा के विरोधी होने चाहिए थे। परन्तु ऐसा न होकर स्वामी जी वृद्ध अवस्था में भी कट्टर शैव थे। पं० सुन्दरलाल जी को शिवलिंग पूजन का उपदेश भी दिया था। इसको हम आगे लिखेंगे।

---

* यह पुस्तक 'दि० जैन संघ चौरासी मथुरा से मिलती है।

इसी प्रकार स्वामी जी की जाति व कुल तथा पूर्वनाम व उनके पूज्य पिता जी के नाम के विषय मे आज आर्य पुरुषो मे ही अनेक मत हैं। इन सबका कारण है 'स्वामी जी का अपने पूर्व वृतान्त को छिपाना एवं भ्रमोत्पादक कल्पित जीवन-चरित्र के नाम से प्रकाशित करा देना। स्वामी जी का कर्तव्य था कि या तो मौन रहते, या सच्चा वृतान्त लिख कर छपवाते।

किन्तु श्री स्वामी जी अवसरवादी थे जब जिस प्रकार का अवसर देखा उसी प्रकार की बात कहकर लोगों को चुप कराने का प्रयत्न किया करते थे। जहा महाराज ने सिद्धान्तो के विषय मे इस युक्ति से काम निकाला, वहा जीवन-चरित्र के विषय मे भी आपने इसी अमोध शस्त्र का प्रयोग किया। इस शस्त्र ने स्वामी जी के जीवन मे अपना कार्य किया परन्तु अब उसका रहस्य खुलने लगा है, अतः अब यह शस्त्र कारगर नहीं हो रहा है।

स्वामी जी ने छिपाया क्यों ?

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि स्वामी जी ने स्वजीवन चरित्र को छिपाने का प्रयत्न क्यो किया। महाराज के जीवन काल मे ही उनके जीवन चरित्र एव कुल आदि के विषय मे अनेक किवदन्तिया फैल रही थीं। सभा आदि मे तथा प्राइवेट तौर पर भी जनता स्वामी जी से उनका पूर्व वृतान्त जानना चाहती थी। जब स्वामी जी इसका उत्तर टालमटोल मे अथवा मौन मे देते थे तो जनता में अनेक अफवाहे फैलती थी। इस पर विवश होकर स्वामी जी को अपनी जुबान खोलनी पड़ी तथा लेखनी भी उठानी पड़ी।

आपने अपनी जीवनी को अब तक छिपाने का जो कारण बताया है वह यह है। "पहिले जो मैने पिता और जन्मभूमि का नाम नहीं बताया था उसका कारण सिवा मेरे सोच विचार के अन्य कुछ भी न था। क्योंकि मेरे नातेदार लोग जो मुझ को अच्छी तरह जान जाते और वे मेरे घर तक खबर पहुंचाते तो अवश्य वे लोग मुझ को तलाश करते और फिर लाचार होकर उनके साथ जाना पड़ता, फिर घर वालों की सेवा खुशामद करनी पड़ती तथा गृहस्थी का भार मेरे ऊपर पड़ता आदि।'

श्री स्वामी जी महाराज ने इसके सिवा अन्य कोई कारण नहीं बताया। इतने बड़े महापुरुष की आत्मा इतनी निर्बल थी यह देख कर हृदय मे शूल सी चुभती है। आज भारतवर्ष में हजारों सन्यासी हैं जो अपने स्त्री पुत्रादि को छोड़कर साधु हुए है उनके घरवाले उन

को जानते भी हैं परन्तु उनकी आत्मा मे कभी भी यह कमजोर विचार धत्प न नहीं होते जैसे स्वामी जी महाराज के थे।

वर्तमान समय के महापुरुषो को ले तो श्री स्वामी विवेकानन्द जी व रामतीर्थ तथा रामकृष्ण आदि महापुरुषों को ले सकते हैं। उन सब के कुटम्बि जन उनको अच्छी तरह जानते थे तथा उनकी ख्याति एव परोपकार को देखकर अपने जन्म को सफल मानते थे। इसी प्रकार समर्थ रामदास, चैतन्य महाप्रभु जी, शंकराचार्य, माधवाचार्य रामानुजाचार्य आदि पूर्व महापुरुषों के विषय मे कहा जा सकता है। इसी प्रकार जैन, बौद्ध आदि हजारों साधु हैं उन सब के माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि सब को जानते है परन्तु कोई भी बलात् उनको अपने साथ ले जाकर गृहस्थी नहीं बनाता। स्वयं आर्यसमाज मे भी सैकड़ो साधु हो चुके हैं उनके साथ भी कोई बलात् न कर सका।

पता नही स्वामी जी के कुटम्बियों मे क्या विशेषता थी जिस से स्वामी जी महाराज इस प्रकार भय खाते थे। मालूम होता है कुछ गुप्त रहस्य अवश्य है जो स्वामी जी के हृदय को इतना निर्बल बना रहा था। तथा जो स्वामी जी को या तो मौन रहने को विवश कर रहा था या बनावटी जीवनी लिखने के लिए बाध्य कर रहा था। सम्भव है स्वामी जी को उस रहस्य के प्रकट होने से अपनी निन्दा का भय हो। यदि ऐसा था तो उनको भारी भ्रम था, क्योंकि आज तो संसार ऐसे सत्यवक्ता को महापुरुष मानता है जो अपने आपको सत्य रूप मे जनता के आगे खोलकर रख देता है। इसके लिए महात्मा गांधी जैसी बलवान आत्मा की आवश्यकता है। अस्तु, हम इस पर विशेष कुछ न लिखकर इसको स्वीकार कर लेते हैं कि जो कारण श्री स्वामी जी ने लिखा है वही कारण था और स्वामी जी उस कठिनाई का सामना करने मे अपने को असमर्थ समझते थे जो पिता आदि के नाम बताने से आ जाती।

तो भी उसके अनेक उपाय थे। यथा—

किसी अपने परम विश्वस्त शिष्य को या किसी आर्य पुरुष को अपना सम्पूर्ण जीवन वृतान्त बता देते, और उसको आज्ञा दे देते कि इस को मेरे देहान्त के बाद प्रकट करना या अपना सम्पूर्ण वृतान्त निज करकमलों से लिखकर एक लिफाफे मे बन्द कर देते और उसपर मुहर आदि लगा कर अपने परम भक्त महाराज शाहपुराधीश के यहाँ रख देते, अथवा महाराणा उदयपुर के यहां। और उन से कह दिया जाता कि इसको मेरे पश्चात् खोलकर जनता में प्रकट कर देना।

यदि इन सब पर आपका विश्वास न था तो आप उस को अपने पास ही रख लेते और अन्तिम समय में आर्य पुरुषों को दे देते।

यदि इन सब बातों को भी आप विश्वसनीय नहीं समझते थे तो जब आप जोधपुर में बीमार हुए और डाक्टरों ने भी निराशा प्रगट कर दी थी उस समय तो आप, अपना ग्राम आदि तथा अपने पिता आदि का नाम बता कर उनको पत्र लिखवा देते ताकि वे लोग आकर आपके दर्शन करके अपने को सौभाग्यशाली समझते।

उसी प्रान्त में नहीं अपितु संसार में वह कुल आदरणीय होता जिसने इस कलिकाल में आप जैसे महर्षि को उत्पन्न किया। जनता भी उनके दर्शन करके अपना जन्म सफल करती तथा उनका भी वह आदर होता जो सम्भव है उनके कुल को कभी न प्राप्त हुआ हो।

फिर स्वामी जी ने इन उपायों में से किसी एक पर भी अमल क्यों नहीं किया?

क्या स्वामी जी को उपरोक्त उपाय नहीं सूझे ऐसा मानने को तो हमारी आत्मा तय्यार नहीं है। यदि स्वामी जी को न भी सूझा हो तो भी जनता में से ऐसा करने के लिए अवश्य कहा गया होगा। क्योंकि उस समय यह एक महत्वशाली प्रश्न बना हुआ था। कुत्सित-हृदय के लोग अनेक प्रकार की मिथ्या एवं अश्लील बातें फैलाकर जनता को गुमराह कर रहे थे। उन सब का निराकरण करना आर्य पुरुषों का तथा स्वामी जी महाराज का भी परम कर्तव्य था। क्योंकि किसी बात को छिपाने से जनता में अनेक प्रकार की गलत अफवाहों का फैलना स्वाभाविक बात है। यही कारण था कि महाराज ने उसके निराकरण का प्रयत्न किया परन्तु फिर भी आपने न तो अपने पिता जी का ही शुभ नाम बताया और न जन्म स्थान ही। बताया भी तो भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न रियासतों के नाम, इससे जनता में और भी कलुषित भावों का विस्तार हुआ। क्या कोई ऐसा खतरनाक रहस्य था जिसको इतना होने पर भी स्वामी जी ने प्रकट नहीं किया। ऐसा मानने को तो आत्मा गवाही नहीं देता।

फिर क्या कारण था कि जनता में भ्रम फैल रहा था तथा आर्य पुरुषों में बेचैनी थी। दुश्मन लोग इससे नाजायज फायदा उठा रहे थे और उनको कुत्सित विचारों के फैलाने का साधन मिल गया था, फिर भी स्वामी जी ने जगत को अन्धकार में क्यों रखा? यही नहीं स्वामी जी यह भी अवश्य जानते होंगे कि भविष्य में इससे क्या क्या हानियां होने वाली हैं। स्वामी जी के जीवन-चरित्र की खोज में बाबू देवेन्द्रनाथ जी मुख्योपाध्याय ने ही पचास हजार रुपयों के करीब खर्च

किया है तथा अपना जीवन भी इसी की खोज मे समाप्त कर दिया है फिर भी उनको सफलता नसीब न हो सकी। इसी प्रकार अनेक आर्य पुरुषों ने बहुत प्रयत्न किया परन्तु सिवा निराधार कल्पनाओ के कुछ भी हाथ न आ सका। स्वामी जी द्वारा अपने जीवन-वृतान्त को छिपाने का कोई साधारण कारण नहीं हो सकता।

स्वामी जी को विष

श्री स्वामी जी के जीवन-चरित्र को महत्वशाली बनाने के लिए कुछ लोग अनेक प्रकार की मिथ्या बाते गढ़-गढ कर उनके जीवन-चरित्र मे लिखते रहते है। जिन से जनता मे स्वामी जी के प्रति बजाय श्रद्धा उत्पन्न होने के विरुद्ध भावनाये ही बनती है। क्योंकि जब उन बातों की जाच की जाती है तो उनका मिथ्या सिद्ध होना अनिवार्य है। उन ही मे से एक जहर देने की घटना है।

कहा जाता है कि जगन्नाथ रसोइये ने स्वामी जी को जहर दे दिया था। जब यह प्रश्न किया गया कि ऐसा कोई जहर नही होता जो इस प्रकार फूट निकले। तब यह कहना आरम्भ किया कि काच को पीस कर बूरे के साथ दूध मे मिलाकर पीने को दिया। भक्तो ने इतने पर ही सन्तोष नहा किया अपितु स्वामी जी की उदारता प्रकट करने के लिए स्वामी जी से जगन्नाथ को भगाने के लिए रुपयो की थैली भी दिलवा दी ताकि वह पकडा न जाय।

महाराज जोधपुर ने तो यह कानून बना दिया था कि यदि कोई इस प्रकार की मिथ्या बाते फैलायेगा तो उसको सजा दी जायगी।

जब हम आर्यसमाज के प्रचारार्थ जोधपुर गये तो यह जानकर आश्चर्य हुआ। वहा के प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने हमे बताया कि जहर देने वाली घटना मे कुछ तथ्य नही है। सत्य यह है कि श्री स्वामी जी महाराज की तबियत पहिले से ही कुछ खराब चली आती थी, एक रात्रि को उनकी तबियत कुछ घबडाने लगी। अत बडे डाक्टर से जो कि मुसलमान थे उनका इलाज कराया गया। उस डाक्टर से अन्धेरे के कारण औषधि मे भूल से तेजाब की कुछ बूंदे गिर पडी।

महाराज नाहरसिंह जी शाहपुराधीश जो महाराज के परम भक्तो मे से थे, उन्होने महात्मा मुन्शीराम (श्रद्धानन्द) जी को इस विषय मे पत्र लिखा कि 'यदि इस लेख से श्री स्वामी जी का यश फैलता है तो मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है, परन्तु यह सत्य नहीं है। उन्होने लिखा कि जगन्नाथ रसोइया स्वामी के साथ अजमेर मे अन्त समय तक था। उसके पश्चात वह यहा काम करने लगा।'

उसी पत्रव्यवहार को तथा अन्य अनेक प्रमाणों का संग्रह करके पं० गंगाप्रसाद जी शास्त्री देहलवी (जिन्होंने महाभारत का हिन्दी अनुवाद किया है) ने पुस्तकाकार छपवा दिया तथा आर्यसमाज के प्रसिद्ध २ व्यक्तियों के पास भेजा। इस पर आर्यसमाज में खलबली मच गई।

अब बाबू घासीराम जी प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० ने भी स्वामी जी के जीवन-चरित्र में इसको असत्य मान लिया है। फिर भी अनेक भोले प्राणी अब भी इस घटना को जनता के सम्मुख बखान करते रहते हैं। इसी का नाम अन्धविश्वास है।

इसी प्रकार की अनेक बातें हैं, जिनको 'श्री मद्दयानन्द परिचय' में लिख चुके हैं जो विशेष देखना चाहें वहां देख लें। तथा पं० गंगाप्रसाद जी द्वारा लिखित 'स्वामी दयानन्द सरस्वती का निजामत' नामक पुस्तक में देखें। एवं बाबू देवेन्द्र जी द्वारा लिखित तथा बाबू घासीराम जी द्वारा सम्पादित स्वामी जी के जीवन-चरित्र को पढ़ें।

स्वामी जी का स्वभाव

तास्तु वाचा सभायोग्या याश्चित्ताकर्षणक्षमाः।
स्वेषांपरेषां विदुषां द्विषामविदुषामपि॥

किसी कवि ने व्याख्याता का लक्षण करते हुए लिखा है 'उसकी वाणी ऐसी होनी चाहिए जो कि सभा का चित्ताकर्षण करने में समर्थ हो, तथा मूर्ख और विद्वानों एवं द्वेषियों पर भी अपनी छाप लगा दे।'

किन्तु श्री स्वामी जी महाराज में जहां अभिमान की पराकाष्ठा थी वहां उनकी वाणी भी इतनी कठोर थी कि प्रत्येक विद्वान उनके पास जाते हुए संकोच करता था। हम इसके कुछ उदाहरण उनके जीवन-चरित्र से देते हैं।

डाक्टर भण्डारकर जी पं० विष्णु परशुराम के साथ स्वामी जी के पास गए। डाक्टर साहब ने शुनःशेप की कथा को वेद तथा ऐतरेय ब्राह्मण में से कहकर वेदों में बहु देवतावाद पर शंका की। उसके उत्तर में स्वामी जी गालियां देने लगे। पृष्ठ २८६ स्वामी दयानन्द जी का जीवन-चरित्र ले० बाबू देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय, सम्पादक पं० घासीराम जी प्रधान यू० पी० आ० प्र० स०। डा० भण्डारकर भारत के गौरवस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वैदिक विद्वान हुए हैं, उन के सम्मुख वैदिक साहित्य के विषय में श्री स्वामी जी गालियां देकर ही अपनी प्रतिष्ठा रख सकते थे।

महाराज 'करौली' के यहां एक पं० मनिराम जी नामक विद्वान रहते थे। जब स्वामी वहां गये तो महाराजा साहब के सन्मुख ही पं० मनीराम जी से स्वामी जी का वार्तालाप होने लगा, स्वामी ने पं० मनीराम जी को मूर्खादि कहना आरम्भ कर दिया, यह बात महाराजा साहब को बहुत बुरी प्रतीत हुई तो महाराजा ने स्वामी को विदा होने के लिए कहा और आपको सत्कार पूर्वक विदा कर दिया। पेज ६३

सम्पूर्ण शास्त्रार्थों मे तथा साधारण वार्तालापों मे भी स्वामीजी का यही तरीका था कि जब आपको कुछ भी उत्तर नहीं सूझता था तो आप क्रोध मे आपे से बाहर हो जाते थे और गालियां देने लगते थे। अर्धशिक्षित शिष्यों पर प्रभाव रखने का उनके पास यही एक मार्ग था।

पुस्तक छीनली

जब स्वामी जी प्रथम बार अजमेर गये तो दो लाला धन्नालाल व ला० अमृतसिंहजी जैन भी आपके दर्शनोंको गये, जब उन्होंने स्वामीजी से शंका समाधान करना चाहा तो स्वामीजी महाराज ने क्रोध में आकर ला० धन्नालालजी के हाथ मे से पुस्तक छीनली और कहा कि तुम नास्तिक हो। फिर यहां आना हम तुमको भली भांति समझा देंगे।

ला० धन्नालाल डिप्टी कमिश्नर के पास गया और वहां अपना दुखरोया, डिप्टी कमिश्नर ने रायसाहब दौलतरामजी से कहकर पुस्तक दिलवाई। पृ० ६५

वेद भाष्य और विद्वान

श्री स्वामीजीकी आज्ञानुसार महाशय लोगोंने गवर्नर पंजाबके पास वेद-भाष्य की सहायता के लिये प्रार्थना- पत्र भेजा। गवर्नर महोदय ने वह वेदभाष्य विद्वानों को दिखाकर उनसे सहमति ली। सब विद्वानों ने एकमत से उसका विरोध किया। इस पर गवर्नर ने सहायता देने से इन्कार कर दिया।

इस पर स्वामी जी ने विद्वानों के लिये कहा कि "ये सब लोग सायण आदि के क्रीत दास है, स्वार्थी हैं आदि।" पृ० ४११

जो विद्वान होगा, वह तो विद्वानों का ही दास होगा, इस मे आपको ईर्षा करने की क्या आवश्यक्ता थी। यह आपकी कमी थी कि आप विद्वानों को अपना न बना सके। यदि आप भी श्री शंकाचार्य अथुवा श्री सायण आदि जैसे विद्वान होते तोविद्वान लोग आपके भी दास होते।

मासिक पत्र ब्राह्मण सर्वस्व

जिसको पं० भीमसैनजी इटावा से निकालते थे। उसके वर्ष ५ के १

से ४ तक में 'स्वामी दयानन्द के साथ में हमारे निवास' यह लेखमाला छपी है। उसमें स्वामीजी के स्वभाव के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं।

(१) स्वामीजी का स्वभाव उदार नहीं था अपितु संकुचित मनोवृत्ती के पुरुष थे, यही कारण था कि उनके पास कोई नौकर नहीं टहरता था।

वे बिना विचारे ही चाहे जिस पर झूटा इलजाम लगाया करते थे आपकी दो बार लंगोटिया खो गईं तो आपने अपने साथ रहने वाले नौकरों के नाम लगाईं। एक बार तो एक नौकर की तनख्वाह में १॥) लंगोटियों का काटकर उसे पृथक कर दिया। दोनों ही बार लंगोटिया मिल गईं। परन्तु फिर भी किसी पर मिथ्या दोष लगाने का पश्चात्ताप नहीं किया।

अन्तिम समय में आपका प्यारा नौकर जब आपके रुपये चुराकर ले गया तो आपने अपने शिष्य स्वामी रामानन्दजीका नाम पुलिसमें ले दिया। बेचारा स्वामी रामानन्द आठ दिन तक स्वामीजी की दया से हवालात में रहा।

जब पुलिस को तहकीकात से निश्चय हो गया कि स्वामी दयानन्द जी का ख़याल गलत है तब वह छोड़ा गया।

(३) स्वामीजी अपने साथ रहने वाले विद्वानों पर जोर डालते थे। कि हमारी जिस बात को आप गलत भी समझते है उसका भी आपको वकीलों की तरह समर्थन करना होगा।

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण वहां दिये हैं जिन से स्वामीजी के स्वभाव का पता लगता है।

पादरियों से सहायता की याचना

स्वामी जी के इस जीवन चरित्र में पादरी 'राबसन' साहब का पत्र छपा है। उसमें पादरी साहब ने लिखा है कि स्वामी जी ने पादरी साहब से मूर्तीपूजा के विरोध में प्रचार के लिये सहायता मांगी पादरीसाहब ने यह कहकर सहायता देने से इन्कार कर दिया कि हम धार्मिक मामलों में राजसत्ता का प्रयोग उचित नहीं समझते।

आगे पृष्ठ ८३ पर लिखा है कि एक दिन स्वामीजी ए० जी डेविडसन डिप्टी कमिश्नर अजमेर से मिले, आपने उनसे मत-मतान्तरों को दमन करने की बात कही परन्तु साहब ने इस प्रार्थना को हंसकर अस्वीकार कर दिया।

इस घटना से स्वामी जी की मनोवृत्ति का पता लग जाता है। आप तर्क और समझाने के बजाय राजसत्ता से इन धर्मों को मिटाना चाहते थे।

कर्नल अलकाट साहब और स्वामी जी

हम कर्नल अलकाट साहब का वह पत्र आगे देंगे जो कि उन्होंने स्वामीजी के नाम अमेरिका से भेजा था उस पत्र से आपको विदित हो जायगा कि अलकाट साहब की स्वामी जी के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा और भक्ति थी। उस पत्र के उत्तर में स्वामी जी ने उनको भारत-वर्ष बुला लिया और उन को साथ लिए सब जगह भ्रमण करके अच्छा यश प्राप्त किया। यहां आकर उन्होंने एक 'थियोसोफिस्ट' नाम की संस्था कायम की। उसके सभासद श्री स्वामी जी महाराज भी बन गए। यह सभा इन्होंने अमेरिका में भी खोल रक्खी थी तथा यह प्रसिद्ध था कि ये लोग इस सभा के प्रचारक थे।

जब उनकी सोसायटी उन्नति करने लगी और उसमें आर्यसमा-जियों की भी धड़ाधड़ भर्ती होने लगी तो स्वामी जी को चिन्ता हुई, क्योंकि वे तो उन साहब लोगों को अपने प्रचार का साधन बनाना चाहते थे परन्तु हुआ इसके विपरीत। स्वामी जी से भी अधिक प्रतिष्ठा जनता में अलकाट साहब की होने लगी। यह बात श्री स्वामी जी को किस प्रकार सहन हो सकती थी। कर्नल अलकाट साहब किसी कार्य से शिमला जा रहे थे तो स्वामी जी के दर्शनार्थ वे मार्ग में उतर गये। स्वामी जी ने कड़ाई के साथ उनसे शास्त्रार्थ के लिए आग्रह किया।

कर्नल अलकाट साहब स्वामी जी में एकदम बिना कारण यह परिवर्तन देखकर आश्चर्य करने लगे और उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा कि महाराज! आप तो हमारे गुरु हैं, फिर गुरु और शिष्य में शास्त्रार्थ कैसा? हमें तो आप जो आज्ञा देंगे वही हमारे लिए ईश्वर-वाक्य है।'

परन्तु स्वामी जी ने एक न सुनी और तीन दिन तक ईश्वर-विषय पर शास्त्रार्थ होता रहा, अन्त में स्वामी जी महाराज अपने स्वभावा-नुसार गालियों का प्रयोग करने लगे तो कर्नल अलकाट उठकर चले गये और शिमला रवाना हो गये। उसके पश्चात स्वामी जी महाराज कर्नल साहब से शास्त्रार्थ करने की इच्छा से बम्बई गये, जब कर्नल साहब को यह विदित हुआ तो वे और उनकी स्त्री स्वागतार्थ स्टेशन पर गये परन्तु स्वामी जी ने इस बात का कोई ध्यान न रखकर वहीं उनसे शास्त्रार्थ के लिये जोर दिया।

'अलकाट' साहबको अनुभव हो ही चुका था अतः उन्होंने कहा कि इस विषय में आपसे मेरी स्त्री बातचीत करेगी। परन्तु उनकी स्त्री ने भी स्वीकारता न दी, अत वह स्वामी जी के पास नहीं आई। इस पर स्वामी जी ने कर्नल साहब से सम्बन्ध विच्छेद का नोटिस दिया और वह अपूर्व मेल यहां समाप्त हो गया।

पं० जियालाल जी जैन ने 'दयानन्द चरित्र दर्पण' के पृष्ट ४६ में लिखा है कि कर्नल अलकाट साहब जब भारत में आये तो उनका सब से प्रथम भाषण लाहौर की आर्यसमाज में हुआ था, उसमें कर्नल साहब ने कहा था कि स्वामी जी ने मेरे से प्राइवेट कहा है कि मैं उस ईश्वर को नहीं मानता जो आर्यसमाज के नियमों में लिखा है, मेरा मान्य ईश्वर अन्य ही है, अत. मेरा उनसे मतभेद नहीं है।

जो चिट्ठी कर्नल अलकाट ने अपनी सोसायटी की ओर से स्वामी दयानन्द जी सरस्वती के पास हिन्दुस्थान में भेजी थी उसकी नकल निम्न लिखित है –

'स्वामी जी महाराज ? चन्द लोग अमेरिका व और और देश-निवासी तालबइल्म जो कि इल्म परमेश्वर व आत्मज्ञान होने का अत्यन्त शौक रखते है वह अपने आप को आपके चरणों में डालकर यह प्रार्थना करते है कि आप उनका उद्धार करें। यद्यपि वह अन्य अन्य देश निवासी और पृथक पृथक पेशा व नौकरी करने वाले है लेकिन वे लोग सब के सब एक ही मनोरथ सिद्ध करने और उत्तमोत्तम हो जाने के लिए दृढ़चित्त हो सम्मिलित व सुसम्मित हैं। इसी कारण तीन वर्ष पेश्तर से उन्होंने अपनी एक सभा स्थापित की है। और उसका नाम 'परिब्रह्म परिज्ञान समाज' रक्खा है।

उन्होंने अपने ईसाई मत में कोई बात न देखी कि जिससे स्वार्थ तथा परमार्थ ज्ञान प्राप्त करके अपना चित्त सन्तुष्ट करते। बल्कि हर तरफ से खराब करने वाले उसके निश्चयों के अति बुरे फल देखे, और इस बड़े बड़े पादरी आदि पाये कि जाहिर परस्त और धाऊधप्प और बुद्धिनाशक हैं। उन पर विश्वास लाने वाले लोग भी बहुत बुरी रीति व अपवित्रता से कालक्षेप करते हैं और यह भी देखा गया है कि पादरी लोग भलाई व दानाई को ताक में रखकर दोषों को छिपाते और ऐबों को माफ कर देते हैं जो कि उनकी वह सब हालत इन मुल्कों के मनुष्यमात्रों को खराब स्वतः करने वाली हैं।

लाचार हम उनके मत से जुदे होकर रोशनी पाने के लिए हिन्दुस्थानाभिमुख होते है, हमने अपने तहीं खुले मैदान पुकार पुकार कर

ईसाई मत का दुश्मन प्रसिद्ध कर दिया है। हमारे इस चलन व साहस को देखकर सबकी नजर हमारी तरफ से फिर गई। अर्थात् बड़े बड़े अधिकारी व अखबार नवीश (कि जिनकी भ्रष्ट बुद्धि पर दुर्व्यसनासक्त प्रकृति है और ईसाई से भिन्नमत वालों से द्वेष रखते हैं) हमको धिक्कार देते और भ्रष्ट व काफर व गंवार कहते है। हमने १८ महीने पश्तर मरे हुए आदमी की लाश (शव) को कबर से निकाल कर पुराने पुरुषों यानी आर्यों की रीति से जला दिया।

हम केवल तरुण आदमियों की सहायता नहीं चाहते बल्कि उनका चाहते है कि जो बड़े दाना और ब्रह्मनिष्ठ हैं। इसलिए हम आपके चरणों में इस तरह शिर नवाते है जैसे कि बच्चे मां-बाप के पैरों पर गिरते है और कहते है कि आप हमारे गुरु! हमारी ओर देखिये और बतलाइये कि हम क्या करें? और हमको अपनी शिक्षा वा सहायता से पात्र बनाइये। यहां लाखों आदमी ज्ञान-रहित विषयाशक्त झूठे मत रूप अन्धकार में पड़े हुए हैं और इतने पर भी उन गुमराहों को सन्तोष हो मानो नहीं। अपनी चुस्त-अक्ली व अतिनिन्द्क उमङ्ग से अपना धन खर्च कर जाहिल आदमियों को अपना शुद्ध मत कबूल कराने में तत्पर रहते हैं। हमारी रसाई अखबारों तक बखूबी है, उनके द्वारा हम वैदिक मत के सही खयालात तमाम ईसाई मुल्कों में फैला देना चाहते हैं। और जिन लोगों को ईसाई महामूर्ख बतलाकर अपने मत में लाना चाहते है उनको चेताना व उन पर ईसाई मत की भ्रष्टता व मिथ्यात्व प्रकाशित कर देना हमारा ऐन मनोरथ है, इसी तरह आर्यावर्त के प्राचीन ग्रन्थ बेद शास्त्रों का जो इन दुष्टों ने विपरीत अर्थ प्रकाशित किया है वह अब हम सत्य-सत्य छपवा कर इनकी चालाकी और दुष्टता स्पष्ट करना चाहते हैं, अगर आप हमारी सभा की मेम्बरी की सनद स्वीकार कर लेवें तो हमको बड़ी प्रतिष्ठा और इज्जत मिलेगी और आपकी कृपा व मिहरबानी और सहायता से हमको बड़ा ही जोर बन्धेगा। हम अपने तईं आपके शिष्यगणों में स्थापित करते हैं। जिस पाक काम में आप संसक्त हैं, शायद आपको भी हम से कुछ सहायता उसमें पहुंचे, क्योंकि हमारा मैदाने जंग कन्याकुमारी से हिमालय तक फैला हुआ है, अर्थात् सारे हिन्द में जो हम चाहेंगे वह कर सकते हैं। स्वामी जी महाराज! आप अपने मनुष्यों के स्वभाव को खूब पहिचानते हैं इस लिए निश्चय है कि हमारे दिल का भी हाल आप पर छुपा न रहा होगा।

हम बारम्बार प्रार्थना करते हैं कि आप हमारी तरफ परम कृपा व

दयादृष्टि से निहारें। हम सच कहते हैं कि हम आपके शरणागत आप की चरण-रज बनकर होते हैं। न किसी अहंकार या कपट से हमारी यह दीनता है। निश्चय जानिये कि हम आपके शिक्षा लेने और इस कर्तव्य के करने को मुस्तैद व उपस्थित हैं. इसलिये कि आप हमको आज्ञा करें जो आप हमको एक पत्र में लिखें। तो जान लें कि हम ठीक २ क्या जिज्ञासा रखते हैं। निश्चय है कि जो हम चाहते हैं वह आप हमको जरूर अर्पण करेंगे।' (८ मई, सन् १८४० ई०)

(अय परम प्रतिष्ठित साहब ! मैं हिजरी पम अलकाट ईश्वर परिज्ञान समाज के सभापति। यह पत्र सभा की तरफ से आपको बड़ी नम्रतापूर्वक लिखता हूं। इति।

स्वामी जी की योग्यता

सब से अधिक मिथ्या विश्वास यह फैलाया जा रहा है कि स्वामी दयानन्द जी निर्भ्रान्त ऋषि व महर्षि व संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान थे। हम भी इसी मिथ्या विश्वास के कारण आर्यसमाज में फंसे रहे। जब हमें स्वामी जी की कोई भूल प्रतीत होती थी तो हम यही समझते थे कि यह उनकी नहीं हो सकती। हो सकता है तुम्हारी ही भूल हो अथवा छपने छपाने से ऐसी भूलें रह ही जाती हैं। परन्तु जब यह मिथ्या विश्वास जाता रहा तब आंखें खुलीं कि वास्तव में ये भूलें स्वामी जी की थीं।

स्वामी जी का सारा जीवन-चरित्र अपने विचारों के परिवर्तन से ही भरा हुआ है। यह परिवर्तन ही उनकी योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। फिर भी हम उनकी योग्यता के कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं।

श्री स्वामी जी महाराज ने एक 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' नामक पुस्तक इस लिए बनाई थी 'जिस से सर्व साधारण को संस्कृत बोलने का अभ्यास हो जावे। जब यह पुस्तक बनारस से छपकर प्रकाशित हुई तो बनारस के विद्वानों में इसका अच्छा उपहास हुआ। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान पं० अम्बिकादत्त जी व्यास ने इसका उत्तर 'अबोध निवारण' नाम की पुस्तक छपवा कर दिया है।

उसमें, इस लघु पुस्तिका 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' की लगभग ६० भूलें ऐसी निकाली हैं कि जिनको देखकर हंसी आती है। जब यह 'अबोध निवारण' छप कर जनता में आई तो आर्यसमाज में बड़ी खलबली मची।

एक दिन साप्ताहिक सत्संग के समय आर्यसमाज प्रयाग में इस विषय पर चर्चा चल पड़ी। पं० भीमसेन जो भी वहीं उपस्थित थे। पं०

…न्दरलाल जी ने 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' की अशुद्धियों का कारण पं० भीमसेन जी को ही बताया।

इस पर पं० भीमसेन जी ने कहा कि 'जिस समय वह पुस्तक लिखी गई व छपाई गई उस समय मैं तो छुट्टी पर था। यही कारण है कि वह पुस्तक इतनी अशुद्ध छपी है। उसका प्रूफ आदि सब स्वामी जी ने ही देखा था। वास्तव में बात यह है कि स्वामी जी संस्कृत बोलते ही अशुद्ध हैं। जब मैं होता हूं तो उस वाक्य को उनसे कहकर ठीक कर देता हूं, जब कोई और व्यक्ति लिखता है तो वह अशुद्ध का अशुद्ध रह जाता है। उसमें एक मात्र स्वामी जी की योग्यता का ही अपराध है अन्य किसी का भी नहीं है।'

इतना सुनने से आर्यसमाजियों का पारा एक दम कई डिग्री चढ़ गया। किसी किसी महाशय ने तो भीमसेन पर दावा करने की सम्मति दी।

अन्त में यह निश्चय हुआ कि यह सब वृत्तान्त स्वामीजी के पास लिख कर भेजा जाय। उनका उत्तर आने पर उनकी आज्ञानुसार कार्य किया जावे। अतः वह सब वृत्तान्त स्वामीजी के पास भेजा गया। स्वामी जी ने उत्तर लिख भेजा कि 'पं० भीमसेन के कहे का कुछ खयाल मत करो। अपना काम करते रहो।'

आज भी आर्य भाइयों ने आदर्श रक्खा हुआ है कि जब कोई स्वामी जी की भूल बताता है तो वे झट कह देते हैं कि यह "भीमसेन की करतूत है।" किसी पर मिथ्या दोषारोपण करते हुये जरा भी संकोच नहीं करते। जब इनसे यह कहा जाय कि आपके पास इसका क्या प्रमाण है तो आप शाय कुछ का कुछ कहकर अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं।

आज तक एक भी प्रमाण ऐसा नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि पं० भीमसेन ने जानकर कुछ गडबड की हो। न ऐसा स्वामी जी ने ही कहीं लिखा है। पं० भीमसेन को स्वामीजी विश्वासपात्र समझते थे यही कारण था कि उनके बार बार काम छोड कर चले जाने पर भी उनको किसी प्रकार से मनाया जाता था तथा उनकी तरक्की करके काम पर लगाया जाता था यहीं तक नहीं अपितु उनकी अनेक बातों को भी सहन करना पड़ता था क्यों कि भीमसेन स्पष्ट वक्ता तथा अन्य नोकरों की तरह दब कर नहीं रहता था अपितु स्वामीजी को ही इससे दबना पडता था इसका एकमात्र कारण स्वामीजी का उसको विश्वासपात्र समझना था।

यदि पाठकवृन्द ध्यान से गवेषणा करेंगे तो उनको ज्ञात होगा कि उन्हीं ग्रन्थों में अधिक गडबड है जो ग्रन्थ अन्य व्यक्ति द्वारा लिखे गये हैं

अत:संसकृत वाक्य प्रबोधकी अशुद्धियोंके उत्तरदाता स्वामीजी हैं। फिर जाने अन्य पर दोष लगाना अनुचित है अभी तक भी वह पुस्तक स्वामी जी के नाम से छपती है और उसमें वह अशुद्धियां ज्यूं की त्यूं छपी जाती हैं अब आर्यसमाजबतावें कि इसका उत्तरदायी कौन है यदि वह पुस्तक स्वामीजी की नहीं थी तो उनके नाम से छपी क्यों जाती है?

राजा शिवप्रसाद और स्वामी जी

१२वे समुल्लास मे बौद्ध और जैनों को एक सिद्ध करने मे स्वामी जी ने दो प्रमाण दिये हैं। एक अमरकोष का, दूसरा राजा शिवप्रसाद जी का अमरकोष के विषय मे हम यथा स्थान लिखेंगे यहां राजासाहब के प्रमाण में स्वामीजी के कैसे विचार थे यह दिखलाने के लिये हम उनका पत्र व्यवहार दे रहे हैं।

स्वामीजी ने अपने पत्रों मे राजासाहब को मूर्ख, हठी, दुराग्रही, छली, कपटी, अन्धा, आदि वे सभी गालियां दी हैं जो उनको याद थीं। हम नहीं समझ सकते कि पुन स्वामी जी महाराजने राजा साहब को प्रमाण रूप मे १२वें समुल्लास में किस प्रकार उपस्थित किया है। संभव है (इस सत्यार्थ - प्रकाश के लिखने समय) मूर्खता आदि दोषो से मुक्त हो गये हों। यदि यह बात थी तो स्वामीजी को स्पष्ट घोषित कर देना चाहिये था कि उस समय हमी भूल मे थे।

राजा शिवप्रसादजी सितारे-हिन्द और स्वामीजी का पत्रव्यवहार

चैत्र शुक्ला ११ सम्वत १९३७ को राजा शिवप्रसाद जी सितारे हिन्द ने स्वामीजी को निम्नलिखित एक पत्र भेजा था जो स्वामीजीके उत्तर सहित प्रकाशित किया जाता है

काशी संवत १९३७ चैत्र शुक्ला ११

श्रीमत स्वामी सरस्वती भ्यो नम

जब दर्शन पाया कुछ बात हुई अधूरी रह गई इच्छा थी फिर दर्शन करुं बन नहीं पडा सुना है आप कहीं बाहर पधारने वाले है इस लिये उस दिन के प्रश्न और आपके उत्तर अपने स्मरणानुसार नीचे लिखता हूं यदि भूल हो आप सुधार दे आगे भी कृपा करके इसी पत्र पर कुछ उत्तर लिख भेजे।

(१) मेरा प्रश्न - आपका मत क्या है?

१) स्वामी जी महाराज का उत्तर—

हम केवल वेद संहितामात्र मानते हैं। एक ईशा वास्य उपनिषद संहिता है और सब उपनिषद ब्राह्मण है ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते।

(२) यदि वादी कहे कि आप वेद को ब्राह्मण नहीं मानते तो हम वेद को संहिता नहीं मानेंगे, तो आप संहिता के मंडन और ब्राह्मण के खंडन का ऐसा प्रमाण दीजिये जिससे ब्राह्मणोंका मन्डन व संहिता का खंडन न हो सके। वादी को आप अपना प्रतिद्वन्द्वी समझिये। प्रमाण चाहे ४ मानिये चाहे ६ चाहे सहस्रों। सिवाय शब्द के और सबका सहारा प्रत्यक्ष है सो इसमें प्रत्यक्ष हो सकेगा नहीं और शब्द जो आपने ब्राह्मण को ही नहीं माना तो दूसरा कहां से लाइयेगा केवल आपके कहने से कोई कुछ क्यों मान लेगा ?

(३) संहिता स्वयं प्रकाश है अनुभव सिद्ध है।

(३) वादी कहता है कि ब्राह्मण स्वयं प्रकाश और अनुभवसिद्ध है।

आपका दास — शिवप्रसाद

स्वामी दयानन्द जी का उत्तर

ओ३म्। सम्बत १९२७ चैत्र सुदी १२ गुरुवार। राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो। आपका चैत्र शुक्ला ११ बुधवार का लिखा पत्र मेरे पास आगया। देखके आपका अभिप्राय विदित हुआ। उसदिन आपसे और मुझसे परस्पर जो बाते हुई थी तब आपको अवकाश कम होनेसे मै पूरी बात न कह सका और न आप पूरी बात सुनसके क्योंकि आप उन साहबो से मिलने आये थे। आपका वही मुख्य प्रयोजन था। पश्चात् मेरा और आपका भी समागम न हुआ जोकि मेरी और आपकी बाते उस विषय में परस्पर होती। अब मै आठ दस दिनों में पश्चिम को जाने वाला हूँ इतने समय मे जो आपको अवकाश हो सके तो मुझसे मिलिये फिर भी बात हो सकती है और मै भी आपको मिलता परन्तु अब मुझको अवकाश कुछ भी नहीं है। इससे आपसे मैं नहीं मिल सकूंगा क्योंकि जैसा सम्मुख मे परस्पर बाते होकर शीघ्र सिद्धान्त हो सकता है वैसा लेख से नहीं। इसमें बहुत काल की अपेक्षा है।

(१) आपका-प्रश्न – आपका मत क्या है ?

(१) मेरा उत्तर–वैदिक

(२) आप वेद किसको मानते है ?

(२) संहिताओ को

(३) क्या आप उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?

(३) मैं वेदों मे एक ईशावास्य को छोड़कर अन्य उपनिषदों को नहीं मानता किन्तु अन्य सब उपनिषद ब्राह्मण ग्रन्थों मे है वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

(४) क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?

(४) नहीं क्योंकि जो ईश्वरोक्त है वही, वेद होता है जीवोक्त नहीं। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर-प्रणीत है। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने के योग्य होता है वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो २ वेदानुकूल ग्रन्थ है उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ वेद स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण है। इससे जैसे वेद विरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है वैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय ही है।

अब रह गया यह विचार कि जैसा संहिता ही को ईश्वरोक्त निर्भ्रान्त सत्य वेद मानना होता है वैसा ब्राह्मण ग्रन्थों को नहीं इसका उत्तर मेरा बनाई ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के नवमे पृष्ठ से ८८वे पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति वेदों का नित्यत्व और वेद संज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये वहां मैं जिसको जैसा मानता हूं सब लिख रखा है। इसी को विचार पूर्वक देखने से स्पष्ट निश्चय आपको होगा कि इन विषयों में जैसा मेरा सिद्धान्त है वैसा ही जान लीजियेगा।

(दयानन्द सरस्वती काशी)

राजा शिवप्रसाद जी का दूसरा पत्र

श्री काशी वाराणसी सं० १९३७ चैत्र शुक्ला पूर्णिमा

श्री मत्स्वामी दयानन्द सरस्वतीभ्यो नमो नमः।

आपका कृपा पत्र चैत्र शुक्ला १२ का पाकर अत्यन्त कृतार्थ हुआ। ग्रीष्म का प्रचण्ड उत्ताप अवकाश नहीं देता कि आपके दर्शनानन्द से मन ठण्डा करूं तब तक आप कृपा करके पत्र द्वारा मेरे मन को सन्देह के ताप से बचावें।

आपने लिखा - "ब्राह्मण ग्रन्थ सब ऋषि मुनि - प्रणीत और संहिता ईश्वर -प्रणीत है" तो ब्राह्मण भी ईश्वर प्रणीत है और जो ब्राह्मण ग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत है" तो संहिता भी ऋषिमुनि प्रणीत है। आपने लिखा - वेद संहिता स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण है वादी कहता है जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वतः प्रमाण है आपका संहिता परतः प्रमाण होगा (२) आपने प्रमाण ऐसा कोई दिया नहीं जिससे जिज्ञासुकी तुष्टी, प्रश्न की पूर्ती और सिद्धान्त की पुष्टिकी आशा हो।

आपने लिखा कि - "मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के ९ पृष्ठ से ८८ वे पृष्ठ तक वेदोत्पत्ती वेदोंका नित्यत्व और वेद संज्ञा

वि चार विषयों को देख लीजिये 'निश्चय होगा'। सो महाराज–निश्चय के पलटे मैं तो और भी भ्रान्ति में पड़ गया, मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आपने संहिता को 'माननीय' मानकर ब्राह्मण का क्यों 'परित्याग' किया और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान जो आपने 'वेद के अनुकूल को प्रमाण और प्रतिकूल को अप्रमाण लिखा परन्तु वादी तो ब्राह्मण के विरुद्ध वेद को ही अप्रमाण मानता है तो भी मैंने आपकी "भाष्य भूमिका" मंगा के देखी पर उसमे क्या देखता हू कि पहले ही (पृष्ठ ६ पंक्ति ८) लिखा है–

"तस्माद्यज्ञात् अजायत 'अर्थात उस यज्ञ से (वेद) उत्पन्न हुए पृष्ठ १० पंक्ति २६ मे आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते है कि यज्ञ विष्णु और विष्णु परमेश्वर और फिर पृष्ठ ११ पंक्ति ७ मे आप यह लिखते हैं कि—

'याज्ञवल्क्य महा विद्वान जो महर्षि हुए हैं अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि मैत्रेयि ! जो आकाशादि से भी बडा सर्वव्यापक परमेश्वर है उस से ही ऋक, यजु, साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हे ।' परन्तु आपने याज्ञवल्क्य जी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा ? क्या इसी लिए कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है ? वाक्य तो यही है--

'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणं विद्या उपनिषद् श्लोका सूत्रा ण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोक परश्च लोक सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ।

अर्थात् --अरी मैत्रेयि ! इस भूत के यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्या व्याख्या, इष्ट हुत, खाया-पीया, यह लोक, परलोक, सब भूत सब निश्वसित है ।

मुझे इस समय और कुछ तर्क-वितर्क करना आवश्यक नहीं इतना कहना अलम् कि आपके इस प्रमाण मे तो जो कि बृहदारण्यक ब्राह्मण का है, जैसे वेद ईश्वर-प्रणीत है वैसे उपनिषदादि सब ईश्वर-प्रणीत हैं । यदि इसका अर्थ यह कीजियेगा कि उपनिषद जीव-प्रणीत हैं तो आपके चारों वेद भी वैसे ही जीव-प्रणीत ठहर जायेंगे ।

आपने संहिता स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण को परतः प्रमाण लिखा है और फिर संहिता के स्वतः प्रमाण सिद्ध करने को उन्हीं परतः प्रमाण ब्राह्मणों का आप प्रमाण लाते है सो इस व्याघात से छूटने के लिए

यदि कुछ उत्तर हो तो आप कृपा कर शीघ्र लिख भेजें। तब तक मैं आपकी भाष्य भूमिका आगे नहीं देखूंगा।

पृष्ठों को कुछ उलट पुलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है, आप पृष्ठ ८१ पंक्ति ३ में लिखते हैं—कात्यायन ऋषि ने कहा है कि 'मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है,' पृष्ठ ४२ में लिखते हैं 'प्रमाण ८ हैं,' और फिर पृष्ठ ४३ में लिखते हैं 'चौथा शब्द प्रमाण' 'आप्तों के उपदेश' 'पांचवां ऐतिह्य' 'सत्यवादी विद्वानों के कहे व लिखे उपदेश' तो आपके निकट कात्यायन ऋषि 'आप्त' सत्यवादी 'विद्वान' नहीं थे।

पृष्ठ ८२ में आप लिखते हैं कि ब्राह्मण में 'जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं सो देहधारी हैं अतएव वे वेद नहीं और संहिता में शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है अतएव वेद है। फिर आप उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि 'ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान गाथा नाराशंसी।'

इस वचन में 'ब्राह्मणानि संज्ञी' और इतिहासादि संज्ञा है' तो इस युक्ति से बृहदारण्यक का वचन जो मैंने ऊपर लिखा है उसमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहास पुराणादि संज्ञा है और ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है?

पृष्ठ ८८ पंक्ति १२ में आप लिखते हैं कि 'ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो है' यदि आप इतना और मान लें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है अथवा पृष्ठ ४२ पंक्ति ७ में आप लिखते हैं—'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा-यया तदक्षर मधिगम्यते' इसका अर्थ सीधा सीधा यह मान लें कि आपके चारों वेद और उनके छहों अंग 'अपरा' हैं। जो 'परा' उससे अक्षर में अधिगमन होता है अपना फिर वह का अर्थ व अर्थाभास छोड़ दें तो बड़ा अनुग्रह हो, मेरा सारा परिश्रम सफल हो जावे और आपके दर्शन का उत्साह बढ़े। किमधिकमित्यलम्।

आपका दास- शिवप्रसाद

स्वामी दयानन्द जी का पिछला उत्तर

राजा शिवप्रसाद जी! आनन्दित रहो, आपका पत्र मेरे पास आया, देखकर अभिप्राय जान लिया इस से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से लेके पूर्व मीमांसा पर्यन्त विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं। इसलिए आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक से विदित न हुआ, जो

आप मेरे पास आके समझते तो कुछ समझ सकते। परन्तु जो आपको अपने प्रश्नों के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती वा बलराम स्वामी जी को खड़ा करके सुनियेगा तो भी आप कुछ कुछ समझ लेंगे क्योंकि वे—आपको समझावेंगे तो कुछ आशा है समझ जायेंगे, भला विचार तो कीजिये कि आप उन पुस्तकों के पढ़े बिना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में सम्बन्ध क्या २ उनमें हैं और स्वतः प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परतः प्रमाण और ऋषि मुनिप्रणीत ब्राह्मण हैं। इन हेतुओं से क्या २ सिद्धान्त सिद्ध होते और हुए बिना क्या २ हानि होती है। इन विज्ञानरहस्य की बातो को जाने बिना आप कभी नहीं समझ सकते। सं० १९३७ मिति वै० व० सप्तमी शनिवार।

(दयानन्द सरस्वती)

दूसरा व पिछला निवेदन

(अब इस विषय में आगे कुछ नही लिखा जायगा)

एक पुस्तक भ्रमोच्छेदन नाम मेरे 'निवेदन के उत्तर में' श्रीमत् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का निर्माण किया हुआ आया, समझा कि अब अवश्य स्वामी जी महाराज ने यथा नाम तथा गुण दया करके मेरे प्रश्न का उत्तर भेजा होगा। बड़े उत्साह से खोल के देखा तो 'शिव प्रसाद, कम समझ, आलसी, उसको संस्कृत विद्या में शब्दार्थ सम्बन्धों के समझने की सामर्थ्य नहीं, वह अयोग्य, उसकी समझ अति छोटी, वह अविद्वान, अधर्म कर्म मे युक्त, अनाधिकारी, उसके नेत्र फूट गये हैं उसकी अल्प समझ, वह श्वान के समान, जैसी उसकी समझ वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं, उसकी उलटी समझ, वह प्रमत्त अर्थात् पागल, उसको वाक्य का बोध नहीं, उसकी अन्धाधुन्ध मध्य कारणी राजा, तात्पर्यार्थज्ञान-शून्य, पक्षपातान्धकार से विचार शून्य अशास्त्रवित, अव्युत्पन्न, व्यर्थ वैतण्डिक, अन्धा, उसकी मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात, वह वाद के लक्षणयुक्त नहीं, उसकी बुद्धि और आंखे अन्धकारावृत्त, वह सन्निपाती, वह कोदो देके पढ़ा, वह अविद्यायुक्त, बालक, बधिर, बिचारा संस्कृत विद्या पढ़ा ही नहीं' ऐसे ऐसे शब्द और वाक्यों से परिपूर्ण पाया। खेद की बात है कि क्यों इतना वृथा कागज बिगाड़ा, मैं तो आप ही अपने को बड़ा बेसमझ, बड़ा अविद्वान, बड़ा अधर्मी, बड़ा अशास्त्रवित, बड़ा अव्युत्पन्न, बड़ा अन्धा, पहिले से माने हुए हूं। यदि इनकी जगह राम नाम लिखा होता कदाचित कुछ पुण्य भी हो सकता, (राम राम) मेरे सिर पर आठ खाट और कोल्हू चढ़ाया है। भ्रमोच्छेदन पृष्ठ १०। पर मैं तो

पहाड़ का भी बोझ सह सकता हूँ। हां मुझको छली और कपटी जो लिखा है उसका कारण कुछ समझ में नहीं आया। यदि कहूं कि जो जैसा होता है वैसा ही दूसरों को भी समझता है तो ऐसी बात मन में लाने से भी पाप का भागी मैं नहीं हुआ चाहता।

जो हो, मैं तो अपने प्रश्न का उत्तर देखने को विह्वल था। प्रश्न मेरा एक ही इतना कि 'आपने लिखा 'ब्राह्मण ग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत है' वादी कहता है जो संहिता ईश्वर प्रणीत है, तो ब्राह्मण भी ईश्वर प्रणीत है' और जो 'ब्राह्मण ग्रन्थ सब' ऋषि मुनि प्रणीत हैं तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत है।' आपने लिखा कि वेद (संहिता मात्र) स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण है वादी कहता है जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वतः प्रमाण हैं आपका संहिता परतः प्रमाण होगा। (निवेदन पृष्ठ ८)

'आप संहिता के मण्डन और ब्राह्मण के खण्डन का ऐसा प्रमाण दीजिए जिस से ब्राह्मण का मण्डन और संहिता का खन्डन न हो सके। केवल आपके कहने से कोई कुछ क्यों मान लेगा।' (नि० पृ० ५) निदान भ्रमोच्छेदन की बाईसों पृष्ठें कई बाईस बार उलट डाली। इसके सिवाय उसमें और कुछ उत्तर नहीं पाया कि 'देखिये राजा जी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को, जैसे कोई कहे कि जो पृथ्वी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।' और जो 'सूर्य और दीप स्वतः प्रकाशमान है तो घटपटादि भी स्वतः प्रकाशमान हैं।' (भ्र० पृ० १२ और १३)

भला सूर्य और घड़े की उपमा संहिता और ब्राह्मण में क्योंकर घट सकेगी उधर सूर्य के सामने कोई आधे घन्टे भी आंख खोलके देखता रहे तो चक्षुरोग से अवश्य पीड़ित होवे, जेठ की धूप में नंगे शिर बैठे सन्निपाती नहीं तो ज्वर ग्रहण अवश्य हो जावे यदि अग्न्युत्तेजक काच सामने धर दे कपड़ा लत्ता हो जल जावे। जन्म भर उछले कूदे कैसे ही बलून पर चढ़े कभी सूर्य तक न पहुंचे। इधर कुम्हार से यदि चाक डन्डा और कुछ मिट्टी ले आवे चाहे कितने घड़े आप अपने हाथ बना लेवे और फिर जब चाहे तोड़ डाले।

संहिता और ब्राह्मण दोनों ग्रन्थ हैं, एक से कागज पर एक सी स्याही से लिखे हुए और एक से कपड़ों में बंधे हुए जब तक बतलाया न जाय जानना भी कठिन कि कौन संहिता और कौन ब्राह्मण। पर हां, उस काल से लेकर कि जिस से पहले किसी को कुछ विदित नहीं आज तक सब वैदिक हिन्दू अर्थात् जो हिन्दू वेद को मानते हैं संहिता और

ब्राह्मण दोनों को माननीय मानते चले आये, स्वामी जी महाराज को अपने को इस न्याय से कि 'जो सैकड़ों आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है, वह कभी विद्वान नहीं कहा जा सकता। (भ्र० पृ० १५) ब्राह्मण का परित्याग न करना चाहिए। आपस्तम्बादि मुनि प्रणीत सूत्रों के परिभाषा सूत्र में भी 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' ऐसा ही लिखा है।

और स्वामी जी महाराज जो यह कहते हैं कि 'क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते, जो उनको भी आप्त मानते हो तो मन्त्र संहिता ही वेद है, उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते।' (भ्र० पृ० १५) सो पहिले तो स्वामी जी महाराज यह बतावें कि पाणिनि आदि ऋषियों ने कहा ऐसा लिखा हैं कि 'मन्त्र संहिता ही वेद है' उनके ब्राह्मण वेद नहीं है, वरन पाणिनि ने तो जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने को प्रयोजन देखा स्पष्ट 'छन्दसि' कहा अर्थात् वेद में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में और जहां केवल मन्त्र और ब्राह्मण का देखा 'मन्त्रे' वा 'ब्राह्मणे' कहा और जहां मन्त्र और ब्राह्मण अर्थात वेद के सिवाय देखा वहां 'भाषायाम्' कहा।

भला जैमिनि ऋषि के पूर्व मीमांसा को तो स्वामी जी महाराज मानते हैं, उसमें इन सूत्रों का अर्थ क्योंकर लगावेंगे 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' 'शेषे ब्राह्मन शब्द' (अ० २ पा० १ सू० ३३) इसका अर्थ बहुत स्पष्ट है कि वेद का मन्त्रों में अवशिष्ट जो भाग सो ब्राह्मण। निदान जब मैंने गौतम और कणाद के तर्क और न्याय में न अपने प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामी जी महाराज की वाक्य रचना का उसमें कुछ सम्बन्ध देखा, डरा कि कहीं स्वामी महाराज ने किसी मेम अथवा साहिब से कोई नया तर्क और न्याय रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो, फरंगिस्तान के विद्वज्जनमन्डली-भूषण काशीराज-स्थापित पाठशालाध्यक्ष डाकटर टीबो साहब बहादुर को दिखलाया, बहुत अचरज में आये, और कहने लगे कि—'हम तो स्वामी जी महाराज को बड़ा पंडित जानते थे पर अब उनके मनुष्य होने में भी सन्देह होता है। (तब तो भ्रमोच्छेदन को भ्रमोत्पादन कहना चाहिए) और अंग्रेजी में कुछ लिख भी दिया नीचे उसको भाषा सहित छापा जाता है।

भाषा—'राजा शिवप्रसाद और दयानन्द सरस्वती में जो वादविवाद उपस्थित है उसका निचोड़ यह है कि 'वेद' नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों के कौन भाग प्रमाण और कौन अप्रमाण है। दयानन्द सरस्वती

सिवाय एक उपनिषद के ब्राह्मण और उपनिषद ग्रन्थों को छोड़ देते है, और केवल संहिताओं को प्रमाण मानते हैं, यह रीत न आज कल के हिन्दुओं के मतानुसार। न अतीत कालों के आर्यों के मत से, जिनका लेख हमको मिलता है, अनुकूल है। इस कारण से दयानन्द सरस्वती को अवश्य उचित है कि बलवन्त प्रमाण देवे जिससे उनके अभिमत वेद की सिद्धि हो।

वे कहते है कि संहिता "ईश्वरोक्त है" और ब्राह्मण और उपनिषद केवल "जीवोक्त,,"। परन्तु इस बात का प्रमाण क्या देते हैं? अब तक इन्होंने वृथा कथा ही केवलकह रक्खी है। संहिता मात्र का स्वत प्रमाण होना तभी माना जा सकता है जब दयानन्द सरस्वती दृढतर युक्तिदेवें। आज तक जो युक्तियां दी हैं उनसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता है।

राजा शिवप्रशाद का यह पूछना न्याय है कि "यदि एक स्वत प्रमाण है तो दोनो क्यों नहीं,, और यह तो कभी युक्ति युक्त हो ही नहीं सकता कि वेद भिन्न पुस्तकों को भी कोई इसी रीति से कह दे कि वे भी वेद के समान है, क्यों कि वेद ही को (ब्राह्मण और उपनिषदों के सहित) अनादि काल से,अर्थात् इतने प्राचीन कालसे कि जिसका ठिकाना कोई नहीं बता सकता सब आर्यलोग अपने धर्म का मूलग्रन्थ और परमेश्वर की वाणी मानते रहे हैं।

दयानन्द सरस्वती ने शतपथ ब्राह्मण (बृहदारण्यक उपनिषद) से जो वचन उद्धृत किया है उसपर तो उस बातको अवश्य स्वीकार करना उचित है कि राजा शिवप्रसाद की विप्रतिपत्ति अर्थात् दूषणसयुक्तिकहै उस वाक्य का एक भाग यदि प्रमाण हो तो दूसरा भाग भी अवश्य प्रमाणहै। वह वाक्य है अथवा वाक्य समूह है इसकी चर्चा प्रकृत विषय से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती।

स्वामी जी के सिद्धान्त

श्री स्वामीजी महाराज किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त को (अर्थात् वेद, ईश्वर, जीव का नित्यत्व) किसी निश्चित रूप से नहीं मानते थे। वे धर्म को आचरण की चीज मानते थे, न कि किसी सिद्धान्त विशेष को मानने की। यही कारण है कि वे जब जैसा अवसर देखते थे उस समय वैसा ही कह व लिख देते थे। इसीलिए उनके ग्रन्थों में प्रत्येक सिद्धान्त के विषय मे परस्पर विरोध पाया जाता है। उन ग्रन्थो के विषय में तो हम आगे प्रकाश डालेगे यहा तो हम उनके जीवन मे सैद्धान्तिक रूप से कितने परिवर्तन हुए इस पर कुछ थोड़ा सा प्रकाश डालते है।

श्री स्वामी जी जब श्री वृजानन्द जी के यहा से पढ़कर निकले उस समय तक आप कट्टर शैव सम्प्रदाय के थे। उस समय आप श्रीमद् भागवत का खण्डन किया करते थे तथा देवी भागवत का मण्डन किया करते थे।

सम्वत् १९३२ कुम्भ के मेले के अवसर पर भी आप दुर्गापाठ पुस्तक का पाठ किया करते थे तथा शिव का पूजन भी करते थे केवल भागवत का खण्डन करते थे। उसके पश्चात् भी वर्षों तक शिव-पूजक रहे तथा शिवपूजा का उपदेश भी देते रहे।

देवेन्द्रनाथ द्वारा लिखित जीवन-चरित्र पृ० ९२ पर लिखा है कि स्वामी जी ने प सुन्दरलाल जी को शिवपूजन का उपदेश दिया था।

इसी जीवन-चरित्र के पृ० ६२० पर जयपुर के शास्त्रार्थ के विषय मे स्वय श्री स्वामीजी महाराज का अपना वक्तव्य इस प्रकार छपा है

"हमने जयपुर मे वैष्णव मत के विरुद्ध शैवमत के पक्ष का अवलम्बन करके प० हरिश्चन्द्र की सहायता की थी, जिससे हमारा अभिप्राय यह था कि (जयपुर महाराज वैष्णव मत को त्याग कर शैवमत स्वीकार कर लेंगे। तत्पश्चात उन्हे वैदिक धर्म की ओर भुकाना सहज होगा। महाराज ने शैवमत तो स्वीकार कर लिया है परन्तु हमारा उद्देश्य पूरा न हुआ। हम जब कभी जयपुर गये तो हमारा उपदेश लोगो ने न सुना और कहा कि क्या यह वही रुद्राक्ष नही है जिसके पहनने से आपने हमे मोक्ष मिलने का विश्वास दिलाया था। अब हम कैसे माने कि आपका पहला उपदेश गलत था और अबका सत्य है। उन लोगो के कथन मे युक्तियुक्तता अवश्य थी।,,

स्वामी जी के इस कथन से निम्नलिखित बाते सिद्ध होती है

१-किसी व्यक्ति विशेष को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये उसकी प्रकृति के अनुकूल किसी भी मत का खण्डन व मण्डन कर दिया करते थे।

२-- जब उस मत के मण्डन से उनका अभिप्राय सिद्ध नहीं होता था तो उसका खण्डन करने लगते थे।

३ - रुद्राक्ष माला को मोक्ष प्राप्ति का प्रमाणपत्र बनाकर आपने यह सिद्ध कर दिया कि आप जिस चीज की तारीफ करने लगते थे उसमे अत्युक्ति की पराकाष्ठा कर देते थे।

४ —स्वामी जी धार्मिक सिद्धांतों को एक [illegible] चाल मात्र समझते थे। आप जब जैसा अवसर देखते [illegible] समय [illegible] सी सिद्धान्त का खण्डन और मण्डन कर दिया करते थे।

५- स्वामी जी हृदय से उस समय (जबकि शास्त्रार्थ किया था) भी शैव मत को नहीं मानते थे परन्तु वाणी में तथा कर्म से उसका समर्थन करते थे। तो क्या यह समझा जावे कि स्वामीजी के हृदय में कुछ और था तथा वाणी में कुछ और था। यह सब लोगों के दिखावे के लिए था।

इसी लिए सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में लिखा है कि 'यदि यह (अद्वैत) शंकराचार्य का निज मत था तो अच्छा मत नहीं, और जो जैनियों के खण्डन के लिए यह मत स्वीकार किया हो तो यह मत कुछ अच्छा है।'

इसी जीवन-चरित्र के पृष्ठ १९२ में लिखा है कि स्वामी जी उस समय ८ सत्यों का प्रचार करते थे तथा आठ गप्पों का खण्डन किया करते थे। उन आठ सत्यों में से प्रथम सत्य था २१ शास्त्रों का ईश्वर-रचित मानना। जिनमें ब्राह्मण ग्रंथ ६ दर्शन, अष्टाध्यायी, मनुस्मृति आदि भी सम्मिलित हैं। आपने संस्कृत में एक विज्ञापन छपवाया था जिसमें लिखा था कि -

'ऋग्वेदादीन्येकविंशतिशास्त्राणि परमेश्वररचितानि प्रथमं सत्यम्।
पृ० १९८

इसके पश्चात् इसी जीवन-चरित्र के पृ० २०३ में लिखा है कि स्वामी जी का ग्रन्थों के विषय में मत-परिवर्तन हो गया था। अब वे गीता को त्रिदोष का सन्निपात बतलाने लगे थे। तथा मनुस्मृति को भृगु संहिता कहने लगे थे। पहिले स्वामी जी वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों को एक मानते थे, परन्तु अब ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदानुकूल न होने से प्रमाण न मानते थे। इत्यादि। गीता जैसी पुस्तक को जो कि हिन्दुओं की सर्व श्रेष्ठ पुस्तक है तथा हम अपने स्वाध्याय के बल पर कह सकते हैं कि यदि वेदादि सम्पूर्ण हिन्दू शास्त्रों को एक पलड़े पर रखा जाय तथा गीता दूसरे पलड़े पर तो गीता का पलड़ा बहुत भारी रहेगा। ऐसे शास्त्र को त्रिदोष का सन्निपात बताना ही स्वामी जी के महापुरुष होने तथा महा विद्वान होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

स्वामी जी ने तो वेदों का स्वकल्पित भाष्याभास करके वेदों के गौरव को गिराकर उनको कौत्स ऋषि के मतानुसार निरर्थक ग्रन्थ बना दिया है। जिस पर हम यथास्थान आगे प्रकाश डालेंगे। वास्तव में वेदों को ईश्वर-रचित कहना स्वामी जी की सब से बड़ी भूल थी। श्री स्वामी जी महाराज ने भी इसको समझा परन्तु बाद में। अब स्वामी जी कहीं २ इस भूल को स्वीकार करने लगे थे।

इसी जीवन-चरित्र के पृ० ४५१ पर लिखा है कि मास्टर लक्ष्मण-प्रसाद जी प्रधान आर्य समाज जेहलम ने कहा है कि स्वामी जी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते थे। यही नहीं अपितु अन्य भी अनेक आर्य पुरुषों का यह कहना है कि स्वामी जी का विचार वेदों के विषय में बदल चुका था। स्वामी जी मौखिक ही अपने ये विचार प्रकट नहीं करते थे अपितु अब वे पत्र-व्यवहार में लिखने लगे थे। स्वामी जी का एक पत्र लाहौर के हिन्दी मिलाप ता० २७ नवम्बर १९३३ पृ० ५ पर छपा था। यह पत्र स्वामी जी ने कल्याणानन्द को जोधपुर से लिखा था। उस में स्वामी जी ने वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने का स्पष्ट खंडन किया है। आपने लिखा है कि—

वेद नाम कागज पर अंकित स्याही या कपड़े की सड़ी जिल्द का नहीं है, किन्तु दिव्य-ज्ञान का नाम है। 'स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा' विश्ववेद संसार का ज्ञान ही शान्ति का मूल है। ज्ञान का समुद्र अनन्त अथाह अपार है उसको कागज के किसी कूजे में बन्द नहीं किया जा सकता।' वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक का अभिप्राय यही है कि ऋषियों के अनुभव से लाभ उठाना और सत्य का अन्वेषण करना। किसी पुस्तक विशेष या व्यक्ति विशेष की दासता ने ही मानव समाज में गुलामी का भाव घुसा दिया है और यही गुलामी मजहबी रूढ़िवाद है। वास्तव में समस्त संसार का इतिहास ही सच्चा वेद भाष्य है। इत्यादि।

इसी जीवन-चरित्र के पृ० ३८२ में लिखा है कि पहिले स्वामी जी जीव को सृष्ट (अनित्य, पैदा शुदा जैसा कि मुसलमान मानते हैं) मानते थे, इस पर इन्द्रमणी ने जब उनको समझाया, युक्ति और प्रमाण दिये तो उनकी समझ में आ गया, पुनः जीव को नित्य कहने लगे। सन् १८७५ के छपे सत्यार्थप्रकाश के पृ० ८३- पर भी स्वामी जी ने जीव को 'सृष्ट' माना है।

वर्ण—व्यवस्था

पहले स्वामी जी वर्ण-व्यवस्था को जन्म से मानते थे बाद में गुण कर्म से कहने लगे परन्तु असल में जन्म से ही मानते थे।

वेदान्त

पहले स्वामी जी वेदान्ती थे परन्तु बाद में पलट गये। परन्तु सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में ही शंकराचार्य के मत को वेदमत कहा है। देखो पृ० २९३। वहां शंकराचार्य के साथ आपने जैनियों का

शास्त्रार्थ लिखा है उसमें शंकराचार्य जी की बड़ी प्रशंसा तथा उनके मत को वेदमत कहा है। इसी प्रकार वेदभाष्य में भी अनेक स्थानों पर अद्वैत की पुष्टि की है। स्वामी जी के आगे ही एक विज्ञापन नारायणदास ने उर्दू में निकाला था, जो कि सुदर्शन प्रेस मुरादाबाद में छपा था। उसमें लिखा था 'स्वामी जी पहले तो अद्वैतवाद को वैदिक सिद्ध किया करते थे। अब इन्द्रमणि जी के कहने से उन्हीं मन्त्रों का कुछ और अर्थ करने लगे है। यही बात उस समय के प्रसिद्ध पत्र 'आर्य दर्पण' में सन् १८८३ ई० में प्रकाशित की गई थी। इसी बात को स्वामी जी के वर्तमान जीवन-चरित्र में प्रमाणित किया गया है।

विधवा-विवाह

पहले स्वामी जी विधवा-विवाह का मण्डन करते थे। इसी चरित्र के पृ० ८८ में लिखा है कि 'स्वामी जी ने कलकत्ते में विधवा-विवाह का मण्डन किया था।' पृ० ८७ में लिखा है कि अयोध्या में प० श्री रूपके उत्तर में विधवा-विवाह को विहित बताया था। पूना के व्याख्यान में स्वामी जी ने विधवा-विवाह का मण्डन किया था वे व्याख्यान छपे हुए अब भी मिलते हैं। सहारनपुर के व्याख्यानों में भी स्वामी जी ने विधवा विवाह का मण्डन किया था।

इसके पश्चात् आप जिन मन्त्रों से विधवा-विवाह का मंडन करते थे उन्हीं में फिर आपको विधवा-विवाह का खंडन दिखाई देने लगा। तब आप नियोग के समर्थक बन गए। समर्थक भी यहां तक कि बम्बई में पं० भवानीशंकर की पोती विधवा हो गई तो आपने पं० भवानीशंकर जी को नियोग की प्रथा को प्रचलित करने के लिए उपदेश भी दे दिया। अफसोस पं० जी ने इस ईश्वरीय आज्ञा का उल्लंघन कर दिया।

यदि पं० भवानीशंकर जी उस समय इस प्रथा को चला देते तो आर्यसमाज की वह उन्नति होती जो रामपुष्टिन के मत की रूस में हुई थी। अब भी यदि आर्यसमाज इस वैदिक आज्ञा को माने तो उसका पुनरुद्धार हो सकता है। किन्तु राजकोट में जब स्वामी जी ने आर्यसमाज स्थापित किया तो वहां की जनता ने कहा कि यदि आप नियोग को निकाल दें और ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का नियम न रक्खें तो हम आर्यसमाज स्थापित करते हैं। वहां स्वामी जी ने उनको नियोग वापिस लेने का आश्वासन देकर आर्यसमाज स्थापित कर दी। पृ० ३९८। अभिप्राय यह कि हवा का रुख देखकर स्वामी जी बात किया करते थे। स्वामी जी प्राइवेट तौर पर राजाओं तथा क्षत्रियों को मांस खाने का उपदेश भी देते

थे परन्तु आम जल्पों में उनका खण्डन भी कर दिया करते थे। इसी जीवन-चरित्र के पृ० १३३ पर बा० घासीराम ने एक नोट दिया है। कहते हैं कि महाराज उस समय (मृतक) श्राद्ध का समर्थन करते थे। तथा मांसाहार को क्षत्रियों के लिये विहित बतलाते थे। परन्तु हम इन बातों को विश्वसनीय नहीं समझते। कारण कि इसके अनेक प्रमाण हैं कि महाराज मांसाहार का खण्डन करते थे।,,

हम नहीं समझते कि उसमें अविश्वास की क्या बात है। यह तो स्वामी जी की आदत थी कि जैसा अवसर देखते थे वैसा ही कह देते थे प्रत्येक सिद्धान्त के विषय में आपकी यही नीति थी। मांस प्रकरण पर हम आगे यथा स्थान लिखेंगे। यही अवस्था सम्पूर्ण सिद्धान्तों की है। वे तो जैसा आदमी या जैसी सभा या जैसा अवसर देखते थे वैसा ही कह देते थे तथा उसी के साथ यह वैदिक सिद्धान्त है। यह आज्ञा देते थे।

स्वामी जी का 'वैदिक सिद्धान्त' यह एक 'नारा' था, इसका प्रयोग वे अपनी इच्छानुसार चाहे जब कर लेते थे। पहले उनके विचार में मूर्ति पूजा, श्राद्ध जन्मसे वर्ण-व्यवस्था, मुक्तिसे न लौटना, ईश्वरका साकारत्व ब्राह्मण आदि मनुस्मृती तथा गीता तक का ईश्वर-रचित होना रुद्राक्ष की माला से मुक्ति दुर्गापाठ से मुक्ति देवी भगवत आदि पुराण सब वेदानुकूल थे। मांस खाना, विधवा-विवाह जीव की अनित्यता आदि सम्पूर्ण बातें वेदानुकूल थीं। उस समय यदि कोई इनके विरुद्ध बोलता था तो गाली खाता था। उसको कह दिया जाता था यह कुछ नहीं जानता, स्वार्थी है। इन्हीं बातों का वेद में मण्डन किया है। आदि आदि।

ईश्वरीय धर्म

इसी जीवन-चरित्र के पृ० ४६१ तथा ४८१ पर लिखा है कि स्वामी जी ईश्वरीय धर्म उसी को मानते थे "जिसमें सब धर्मों का एक मत हो तथा जिन बातोंमें परस्पर विरोध हो वे सब बातें मिथ्या, गपोड़ा अथवा ढोंग है" ऐसा कहते थे। इसी का समर्थन सत्यार्थ प्रकाश के ११ वे समुल्लास में किया है यथा "ये सब मत अविद्याजन्य विद्या विरोधी है।" देखो जिस मत में ये सहस्र एक मत हों वही वेद मत ग्राह्य और जिसमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित, झूठा, अधर्म्म, अग्राह्य है इसके पश्चात आपने अहिंसादि १० नियमों को परस्पर अविरुद्ध बताया है तथा उन्हींको वेदमत कहा है उन्हींको ग्राह्य बाकी सब

बातों को झूठा, विद्या-विरुद्ध सिद्ध किया है। सत्यार्थ प्रकाश पृ० ३९६। यह सम्पूर्ण लेख पृ० ३९३ से ९७ तक देखने योग्य है। यहां स्वामी जी ने अपनी कलम से ही अपने सब सिद्धान्तों को कल्पित अविद्याजन्य आदि बना दिया मुक्ति से पुनरावृत्ति, नियोग, निराकार ईश्वर, वेद ईश्वररचित आदि सब में एक दूसरे का विरोध है। जिसमें विरोध हो स्वामी जी के शब्दों में वह झूठा है, कल्पित है, विद्या के विरुद्ध है।

स्वामी जी और मोक्ष मूलर

स्वामी दयानन्द और जैनधर्म, नामक पुस्तक में प० हंसराज जी शास्त्री ने भारत की प्रसिद्ध पत्रिका सरस्वती से एक पत्र मोक्ष मूलर का प्रकाशित किया है जो इस प्रकार है —

आॅक्सफर्ड

२४ फरवरी, १८९१

श्रीमान महाशय जी!

आपने जो कागज भेजे हैं उसके लिये मैं आपको धन्यवाद देता हूं दयानन्द सरस्वती विषयक लेख पढ़कर मेरे सन्देह पुष्ट हो गये जो मेरे चित्त में उनके सम्बन्ध में थे। मैं अभी तक समझता था कि वे धार्मिक विषयों में वे बड़े ही कट्टर या उससे भी अधिक थे। अतः वे अपने वेदभाष्य के उत्तर दाता नहीं। परन्तु मुझे यह जानकर बड़ा ही दुःख हुआ कि वे अपने धार्मिक जोश की आड़ में कोई चाल भी चलते थे। तथापि मैं यह माने बिना नहीं रह सकता कि उनमें कुछ अच्छे गुण भी थे। और अन्य सुधारकों की तरह वे भी अपने अनुयायियों और खुशामदियों द्वारा गुमराह कर दिये गए थे। बड़े दुःख की बात है कि उनके किये गये वेदभाष्यों पर इतना रुपया खर्च किया गया। ये दोनों वेद भाष्य उनकी बहकी हुई बुद्धि के नमूने और सौगात हैं। मुझे इस बात पर आश्चर्य नहीं जो केशवचन्द्रसेन दयानन्द सरस्वती से सहमत न हो सके।

आपका मोक्ष मूलर

सरस्वती भाग १३ संख्या १० पृ० ५५३

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी ने जब अपने विचार स्वामी जी के प्रति तथा सत्यार्थ-प्रकाश, आर्यसमाज के विषय में प्रकट किये तो आर्यसमाज में भूचाल सा आ गया था।

लाला लाजपतराय जी का मन्तव्य

एक समय था जब आर्यसमाज स्वामी जी को निर्भ्रान्त मानने लगा था। उसके उत्तर में लाला जी ने एक पुस्तक 'स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके काम' नाम से लिखी। उसमें आप लिखते हैं कि जितनी आयु बढ़ती थी उतनी ही विद्या और ज्ञान उनका अधिक होता जाता था उतना ही प्रत्यक्ष प्रकाश उन पर पड़ता जाता था। यदि वे और जीते तो अपने जीवन में न जाने और क्या २ सम्मतियें पलटते। जो महाशय उनको निर्भ्रांत मानते हैं वे कृपा करके उस समय को भी प्रकट करें जब वे निर्भ्रांत हुए।' आदि।

श्री शंकराचार्य को जहर

सत्यार्थप्रकाश पृ० २६२ से २६४ तक में श्री शंकराचार्य जी का सुधन्वा राजा की सभा में जैनियों से शास्त्रार्थ कराया है। आप लिखते हैं कि 'बाईस सौ वर्ष हुए कि एक शंकराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरण आदि सब शास्त्र पढ़कर सोचने लगे' आदि।

यहां आपने श्री शंकराचार्य को २२०० वर्ष पहले हुए लिखा है पृ० ४२६ में लिखा है कि 'स्वामी शंकराचार्य से पहले जिनको हुए कुल हजार वर्ष के लगभग गुजरे हैं। सारे भारतवर्ष में बौद्ध व जैनधर्म फैल रहा था।' यहां आपने अपने ऐतिहासिक ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। कहां २२०० वर्ष और कहां कुल १००० के लगभग। इतनी परस्पर विरुद्ध बातों को तो साधारण व्यक्ति भी नहीं लिख सकता।

जहर

आगे पृष्ठ २६४ पर लिखा है कि 'दो जैन कपटरूप धरकर उनके पास शिष्य-भाव से रहने लगे। उन्होंने अवसर पाकर शंकराचार्य को विषयुक्त वस्तु खिलाई कि उनके बदन में फोड़े फुन्सी होकर ६ महीने के अन्दर शरीर छूट गया।'

दुनिया की किसी भी पुस्तक में स्वामी शंकराचार्य को जहर देने का उल्लेख नहीं है। और न कहीं यह लिखा है कि 'दो जैन' कपट रूप से उनके पास रहने लगे। तथा न कहीं उनके शरीर में फोड़े आदि होने का ही कथन है। इस महाशय ने स्वामी जी के शरीरान्त के पश्चात् (जब जगन्नाथ वाली घटना का जाल अन्तरंग में रचा जा चुका था तब) यह भी जाल रचा कि किसी अन्य महापुरुष की मृत्यु के साथ भी स्वामी जी की मृत्यु की तुलना होनी चाहिए। स्वामी जी को महापुरुष बनाने में अनेक बाधायें नजर आने लगी होंगी। ऐसे असत्य निर्मूल आविष्कार पर संसार धिक्कार देगा।

स्वामी जी और मांस

"लुप्त धर्म प्रभाकर"

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वि० सम्वत् १९३२ सन १८७४ ईस्वी मे राजा जयकृष्ण दास द्वारा बनारस मे आप छपवाए सत्यार्थ-प्रकाश के समुल्लास ३ पृष्ठ ४५वे मे -

"वेद ब्राह्मण और सूत्र पुस्तकों मे चार प्रकार के पदार्थ होम के लिखे है, एक तो जिसमे सुगन्ध गुण होय जैसे कि कस्तूरी केशरादिक और दूसरा जिसमे मिष्ट गुण होय जैसे कि मिश्री, शर्करादिक, और तीसरा जिसमे पुष्टिकारक गुण हो जैसे कि दूध, घी और मांसादिक। और चौथा जिसमे रोग निवृत्ति कारण गुण हो जैसा कि वैदिक शास्त्र की रीति से सोमलतादि औषधिया लिखी है। इन चारों का यथावत शोधन उनों का परस्पर संयोग और संस्कार करके होम करे साय और प्रात। समुल्लास ४ पृ० १४८ इसके कहने से अज-मेधादिको का त्याग नही आया। समुल्लास ४ पृ० १४९—मांस को जो खाता हो उसके वास्ते मांस पिंड करने का विधान है, इसमे मांस के पिंड देने मे भी कुछ पाप नही। समुल्लास १० पृ० ३०३ जो मांस खाए अथवा घृतादिकों से निर्वाह करे वे सब भी अग्नि मे होम के बिना न खायें।

इत्यादि मांस विषय के लम्बे २ लेख लिखे हुए है। हे वादिन! यदि वेदादिकों मे मांस विषय के वाक्य प्रक्षिप्त होते तो स्वामी दयानन्द जी ऐसे लेख अपने सत्यार्थप्रकाश मे न लिख सकते। परन्तु स्वामी जी ने वेद, ब्राह्मण और सूत्र पुस्तकों के अनुसार सायं प्रात मांस के होम करने का विधान लिखा है, अजमेधादिको के विधान को स्वीकार किया है, मांस के पिंड दान मे निष्पापता कही है। मांस व घृतादिको को होम के बिना न खाए इस उपदेश से होम करके मांस आदि के खाने का उपदेश किया है। तो अपने आचार्यों से भी विरुद्ध कई एक समाजी भाइयो का प्रक्षिप्त कहना असत्य है।

सिद्धान्ती०—सत्यार्थप्रकाश के छपवाने से त्रय वर्ष पीछे सं० १९३५ के विज्ञापन मे स्वामी जी ने जो लिखने और शोधने वाले की भूल से छप गया लिखा है वह केवल तर्पण और श्राद्ध का लेख ही भूल से छप गया स्वामी जी ने लिखा है, हे वादिन! देखे स्वामी जी का निकाला सं० १९३५ का विज्ञापन ये है--

'सबको विदित हो जो जो बातें वेदो की और उनके अनुकूल हैं उनको मैं मानता हूं विरुद्ध बातों को नही, इससे जो जो मेरे बनाए

प्रकाश वसंस्कार विधि आदि ग्रन्थोंमे गृह्यसूत्रों,मनुस्मृति आदिपुस्तकों के वचन बहुतसे लिखे हैं,वे उनग्रन्थोंके मतोंको जतानेके लिये लिखेहैं उनमे वेदार्थ के अनुकूल का साक्षीवत प्रमाण औरविरुद्धका अप्रमाण मानता हूँ। जो बातें वेदार्थ से निकलती हैं उस उसको प्रमाण करता हूं क्योंकि वेद ईश्वर वाक्य होने से सर्वथा मुझको मान्य है, और जो ब्रह्माजी से लेकर जैमिनी मुनिपर्यन्त महर्षियों के बनाए वेदार्थअनुकूल ग्रन्थहै उनको भी मैं साक्षी के समान मानता हूं और सत्यार्थप्रकाशके४७ पृ० और२६ पंक्तिपितर आदिकों में से जो कोई जीता हो उसका तर्पणन करे और जितने मर गये है उनका तो अवश्य करे। तथा पृष्ठ४७ पंक्ति २१ मरे हुये पितर आदिकों का तर्पण और श्राद्ध करना है, इत्यादि तर्पण और श्राद्धके विषय में जो लिखा गयाहै सो लिखने और शोधने वालों की भूल से छप गया है। इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिये कि जीवितों की श्रद्धासे सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना यह पुत्रादि का परम धर्म है। और जो मर गये हो उनका नही करना क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीवों के पास किसी पदार्थ को पहुचा सकताहै और न मरा हुआ जीव पुत्रादि के दिये पदार्थ को ग्रहण कर सकता है उससे यह सिद्ध हुआ है कि जीते पितर आदि की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्धहै। अन्य नहीं इस विषय में वेद मन्त्र आदि का प्रमाण भूमिका के११अंक के पृष्ठ २५१से लेकर १२अंक के पृष्ठ २६८ तक छपा है वहां देख लेना।"

हे पाठको! स्वामी जी के इस विज्ञापन को देखो सम्यक् विचारो कि सत्यार्थप्रकाश के छपवाने से (अनिकाल) त्रय वर्ष पीछे स्वामी जी ने विज्ञापन निकाला है। इस त्रय वर्ष पीछे के विज्ञापन में भी स्वामी जी ने केवल तर्पण और श्राद्ध के लेख मे ही भूल कही है। उस सत्यार्थ-प्रकाश के और किसी जगह किसी विषय मे भी भूल नही कही। अत तर्पण श्राद्ध को छोडकर और समग्र सत्यार्थप्रकाश स्वामी जी को शुद्ध स्वीकृत था यह सिद्ध हुआ।

पूर्वपक्ष—वह सत्यार्थप्रकाश प्रमाण नहीं है—क्योंकि वह स्वामी जी के गलत ख्यालों से बना है। यह कई समाजी भाई कहते है। व उसमे अशुद्धि भी रह गई है।

हे भ्रातजन! आपका यह कथन यकतर्फी डिगरी है। क्योंकि स०१९३५ के विज्ञापन पत्र मे व१९३६भूमिका आदि मे कहीं भी स्वामी जी ने प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश को अप्रमाण नहीं लिखा है, इससे वह सत्यार्थप्रकाश अप्रमाणसिद्ध नही हो सकता। प्रत्युत तम्हारा कथन ही

अप्रमाण सिद्ध हुआ भ्रान्ती ज्ञान का नाम गलत ख्याल है। तो प्रथम सत्यार्थप्रकाश के बनाने वह छपवानेके समय स्वामीजी के गलत खयाल थे अथात् वेदादिको के विरूद्ध भ्रम रूप स्वामी जी के ख्याल थे, ऐसे कहना यह अपने आचाय स्वामी जी पर आक्षेप नहीं है तो क्या है।

उस सत्याथप्रकाश के बनाने काल मे स्वामी जी ने वेदादि धर्म—ग्रन्थ पढे हुए नहीं थे, यह कोन कह सकता है अन्याय की बात तो यह है कि जो सत्याथप्रकाश स्वामी जी ने आप बनाकर आप छपवाया फिर वह रियासतो मे भी भेजे और भी अधिकारी जनो को दियेगए जोधपुर मुलतान आदि शहरो मे उसका व्याख्यान भी कई वर्ष स्वामी जी करते रहे वह सत्यार्थप्रकाश तो प्रमाणनहीं है और जो सत्यार्थप्रकाश स्वामी जीके देहान्त सेपीछे समाजी भाइयोने छपवाए जिनका पाठभी समाजियो ने तोडफोड़कर न्यूनाधिक करडाला है वह सत्यार्थप्रकाश स्वामीजी का प्रमाणहै, इससे अधिक और क्या अन्याय व बलात्कार या धकतर्फी डिगरी होती है।

पाठको ! ग्रन्थके बनाने छपवाने मात्र की, अक्षर की वह पदकी, कदाचित कोई पंक्तिकी अशुद्धि रह जाती है, परन्तु लम्बेर प्रकरणभूल से नहीं लिखे जा सकते। तथापि स० १९३२में सत्यार्थप्रकाश को छपवा कर पुस्तक अधिकारी जनो को बाट दीगई,व त्रय वर्ष तक उस सत्यार्थ-प्रकाशका आप स्वामी जी प्रचार करतेरहे, फिर त्रय वर्ष पीछे स०१९३५ के विज्ञापन पत्रमें जो उस सत्यार्थप्रकाशके तर्पण और श्राद्धविषयके लेख लम्बे प्रकरण का भूलसे छप जाना स्वामीजी ने सूचित किया है, वह भी असम्भव ही प्रतीत होता है। क्योंकि सत्यार्थप्रकाश के बनाने व प्रूफ देखने के समय स्वामी जी को अशुद्धि प्रतीत न हुई तो छप जाने पर क्या बिना देखे ही ग्रन्थ स्वामी जी ने बांट दिये और क्या बिना देखे विचारे ही उस सत्यार्थ प्रकाश का व्याख्यान व प्रचार करते रहे, जैसे मुलतान में एक स्वामी ब्रह्मानन्द जी उदासीन साधू थे। वह अमृतसर जाकर वहा स्वामी दयानन्द जी को बहुमान से मुलतान मे ले आये. फिर मुलतानमें स्वामीजी कई महीने निवास करउस सत्यार्थप्रकाश का व्याख्यान करते रहे। मुलतान से गमन समय वह सत्यार्थ प्रकाश एक ग्रन्थ स्वामी ब्रह्मानन्द जी को भी स्मरणार्थ दिया। ऐसे ही जोधपुर आदि शहरो मे भी उस सत्यार्थप्रकाश का व्याख्यान करते रहेतो स्वामी जी को एक दो महीने तक नही तो एक दो वर्ष तक भी व्याखान करतेर अपने सत्यार्थप्रकाशमे तर्पणश्राद्ध विषयकेलम्बेर अशुद्धप्रकरण प्रतीत

नहीं हुए। ऐसा क्या सम्भव हो सकता है।

अत त्रय वर्ष पीछे स्वामी जी ने जो सूचना की है इससे जाना जा सकता है कि वह तर्पण श्राद्ध विषय के लेख भी भूल से नहीं छपे, किन्तु पहले स्वामी जी के मृत पितरों के तर्पण श्राद्ध करने में दृढ़ ख्याल थे। फिर उससे स्वामी जी के ख्याल बदल गए।

पाठको! सं० १९३९ की भूमिका- जिस समय मैंने यह सत्यार्थ प्रकाश बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी, अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है।

इसलिए इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरण अनुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है। कहीं कहीं शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है सो करना उचित था क्योंकि इसके भेद किए बिना भाषा की परिपाटी सुधारनी कठिन थी। परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हां, जो प्रथम छपने में कहीं कहीं भूल रही थी वह निकाल शोध कर ठीक ठीक कर दी गई है, इत्यादि।

पाठको! इस लेख में लिखा है कि मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। परन्तु अभी लिखे-लाए (वेद ब्राह्मण और सूत्र पुस्तकों में इत्यादि) पहले सत्यार्थप्रकाश के प्रमाणों को व तर्पण श्राद्ध विषय के लेख को आप देखो या समग्र उस सत्यार्थप्रकाश को देखो तो स्पष्ट होता है कि उस सत्यार्थप्रकाश की भाषा ठीक ही है, गुजराती भाषा से मिश्रित नहीं है। मात्रा अक्षर आदि की अशुद्धि रहनी तो जुदी बात है।

ऐ समाजी भाइयो! पहिले सत्यार्थप्रकाश के नहीं मानने में तो स्वामी जी के गलत ख्याल व भाषा की अशुद्धि को आप निमित्त कहते हो परन्तु संस्कार विधि ग्रन्थ में भी स्वामी जी ने बृहदारण्यक, वेदान्त, उपनिषद् का, अथ य इच्छेत इत्यादि मन्त्र लिखके उसका यह अर्थ लिखा है। जो चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित सदसद्विवेकी शत्रुओं को जीतने वाला स्वयं जीतने में न आने वाला, युद्ध में गमन, हर्ष और निर्भयता करने वाला, शिक्षित वाणी का बोलने वाला, सब वेद वेदाङ्ग विद्या का पढ़ने और पढ़ाने वाला तथा सर्वायु का भोगने वाला पुत्र हो। वह मांसयुक्त भात को पकाके पूर्वोक्त घृतयुक्त खाए तो वैसा पुत्र होने का सम्भव है।

फिर अन्नप्राशन संस्कार में भी स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है—
आजमन्नाद्यकाम ।। तैत्तिरं ब्रह्मवर्चसकामा।

ये दो आश्वलायन गृह्यसूत्र लिख के उन सूत्रों का अर्थ यह स्वामी जी ने लिखा है। देखो। अज के मांस का भोजन अन्न आदिकी इच्छा करने वाला तथा विद्या कामना के लिये तित्तिर मांस भोजन करावे।

हे वादिन ! स्वामी जी ने वेदान्त, उपनिषद् वाक्य को, व गृह्यसूत्रों को प्रक्षिप्त तो नहीं कहा है किन्तु मांस खाना व छः मास के बच्चेको भी मांस का विधान, ये उन वचनों का स्वामी जी ने अर्थ लिखा है तो अपने आचार्यों से भी विपरीत तुम्हारा प्रक्षिप्त ? कहना असत्य ही है, बृहदारण्यक उपनिषद् के हिन्दी भाष्य में पं० राजाराम ने भी उन वचनों को प्रक्षिप्त नहीं कहा है। प्रत्युत 'अथ य इच्छेत्' यह मन्त्र लिख कर उसका यह अर्थ किया है—जो चाहे कि मेरा पुत्र प्रख्यात सभा में जाने वाला, सब की भलाई के कामों में सम्मिलित होने वाला जिसको सुनना चाहते हैं, ऐसी वाणी बोलने वाला प्रसिद्ध वक्ता उत्पन्न हो, सारे वेदों को जाने और पूरी आयु भोगे तो वे दोनों दम्पत्ति मांस ओदन पका कर घी डालकर खायें तो वे ऐसा सन्तान करने को समर्थ होंगे।

टीका— केवल बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में ही नहीं किन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र आदिकों के हिन्दी भाष्य में भी पं० राजाराम जी ने सूत्रों के अर्थों में छः मास के बच्चे को भी मच्छी तित्तिर आदि के मांस खिलाने के विधान लिखे हैं तो संस्कृत अध्यापक पं० राजाराम जी के विरुद्ध कई समाजी भाइयों का प्रक्षिप्त ? कहना असत्य ही है। स्वामी जी के देहान्त के बाद छपाए संस्कार विधि ग्रन्थों के भी सन्यास प्रकरण में तैत्तिरीय आरण्यक के प्रबल प्रमाणों से सन्यासी का यज्ञरूप कर वर्णन किया है, वहां भी सन्यासी रूप यज्ञ में क्रोध को पशु कहा है। वेदों में यज्ञों में पशु बलिदान के विधान किये हुए हैं। तभी तो सन्यासी रूप यज्ञ में भी मारने योग्य क्रोध को पशुरूप वर्णन किया है तो आप क्यों दुराग्रह कर उन वचनों को प्रक्षिप्त व मिथ्या कहते हो और अर्थ को भी बदलते हो। जिस से वहां संस्कारविधि ग्रन्थ में जो मलवत छोड़ने योग्य है ऐसा अर्थ लिख डाला है। वह भी मूल से विपरीत अर्थ लिख दिया है। क्योंकि मूल तैत्तिरीय आरण्यक में क्रोध पशु रूप कहा है मलरूप नहीं।

पाठको ! जब समाजी भाइयों ने अपने आचार्य स्वामी दयानन्द जी के रचित ग्रन्थों के पाठ को तोड फोड़ देने में, पाठ को बदल लेने में, संकोच नहीं किया तो और ग्रन्थों के वचनों को प्रक्षिप्त कह देना

या उनका पाठ तोड़फोड़ देना, पाठ बदल देना उनके आगे क्या बड़ी बात है।

प्रथमावृत्ति संस्कार विधि के ११वें पृष्ठ पर जो स्वामी जी ने बृहदारण्यक उपनिषद्का 'अथ य इच्छेद' इत्यादि मन्त्र लिखा है उस मन्त्र में "मांसौदनम्" ऐसा पाठ है। फिर स्वामी जी ने उनके अर्थ में भी मांस खाना लिखा है।

उपनिषद् पुस्तकों मे 'मांसौदनम्" ऐसा ही पाठ है। शांकर भाष्य में भी 'मांसौदनम्' ऐसा पाठ लिखके मांसयुक्त भात अर्थ किया है मिताक्षरा टीका मे भी 'मांसदनम्' ऐसा ही पाठ है उसका अर्थ भी मांसयुक्त भात ही है। संस्कृत प्रोफेसर पं० राजाराम ने भी वैसा ही पाठ लिखा है। उसका मांसौदन ही अर्थ लिखा है। इसी प्रकार और टीकाओं में भी ऐसा ही है। परन्तु उन सबके विरुद्ध शिवशंकर शर्मा समाजी ने वह पाठ बदलकर उसके स्थान पर 'माषौदनम' लिख डाला है। शिवशंकर शर्मा ने सत्य धर्म की अपेक्षा न करते हुए लोकरंजना को ही बड़ा पदार्थ समझा।

[पृ०३२१]स्वामी ज्ञानचन्द जी ने भी अपने बनाए मांसमीमांसा ग्रन्थ के पृष्ठ ३ की पंक्ति१६ में लिखा है —ऐसी चर्चा भी सुनी गई है, कि अब उसके सिद्ध करने का यत्न हो रहा है कि कुछ पुस्तक मनुस्मृति, अंग्रेजी फारसी और संस्कृत भाषा में फटे पुराने पत्रों पर लिख कर रख ली गई हैं। जो श्लोक मांस भक्षण व मृतक श्राद्धादि के विषय में हैं वे उन पुस्तकोंमें नहीं लिखे गये हैं छोड दियेगए हैं और वे पुस्तकें इस प्रमाणमें दिखाई जा सकती हैं कि जो वे श्लोक मनु जी कृत होते तो प्राचीन कालीन पुस्तक और तर्जुमा अंग्रेजी व फारसी में ही होते सो अन्वेषण से जो प्राचीन पुस्तकें मिली हैं उनमें नहीं हैं अतः ये श्लोक मनुजी कृत नहीं, यह लिखकर फिर अपनी ओर से स्वामी ज्ञानानन्द जी लिखते हैं— हमने न तो आंखों से देखा न निश्चय किया कि कहा तक यह बात होगी, परन्तु जब वह देखने में आवेगी, तब यह आश्चर्य तो अवश्य होगा कि वे प्राचीन पुस्तकें उन्हीं को कहां से मिलीं, दूसरीजगह क्यों नहीं मिलती।

द्वितीयावृत्ति— सत्यार्थप्रकाश के समुल्लास८ पृष्ट में लिखी है— मनुष्य ऋषयश्चये ततो मनुष्य अजायन्त यह यजुर्वेद और उसके ब्राह्मणमें लिखा है ऐसा पाठकर दिया और प्रथमावृत्ति सत्यार्थपकाश मे यहपाठ स्वामीजी ने लिखा है नहीं अब कहो इन दोनों में स्वामीजी का लिखा कोनसा पाठ मानना चाहिए यदि सम्यक विचार करें तो पहिला सत्यार्थपकाशही स्वामीजीका बनाया माना जा सकता है क्योंकि यह मंत्र

यजुर्वेद मे है ही नहीं। अत स्वामी जी ने पहिले सत्यार्थप्रकाश मे लिखा ही नही, फिर जिन्होने द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश छपवाया है उसमे उन्होने ही यह मनोघटित संस्कृत पाठ लिखकर 'यजुर्वेद मे लिखा है' ऐसे लिख डाला, फिर बहुत वर्ष ऐसा ही पाठ छपाते रहे, पुन. देखभाल प्रश्न होने पर जब यह मन्त्र यजुर्वेद मे नहीं मिला तो वह संस्कृत पाठ लिखकर 'यजुर्वेद और उसके ब्राह्मण मे लिखा है' ऐसा अधिक कर डाला, परन्तु उन्होने यह तो नही लिखा कि यह मन्त्र यजुर्वेद के कौन से अध्याय मे है, कितनी संख्या का है, क्योंकि यजुर्वेद मे यह मन्त्र है ही नही, तो वे कैसे लिख सकते थे। अत उन्होने 'और उनके ब्राह्मण मे' इतना अधिक पाठ लिखकर गैले मे अधिक गैला कर डाला।

द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश के समुल्लास ३ पृ० ४०वे मे—

प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते। यह योग शास्त्र का सूत्र है, ऐसा पाठ है, पंचमावृत्ति आदि सत्यार्थप्रकाश मे योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते।

—'योगसाधन पादे सूत्र २८'

ऐसा पाठ कर डाला, परन्तु अर्थ मे प्राणायाम ही रखा प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाश मे यह सूत्र स्वामी जी ने लिखा ही नहीं।

अय समाजी भाइयो! अब कहो, कि इन तीनो पाठो मे स्वामी जी का लिखा कौनसा पाठ है। यदि ठीक निर्णय करे तो पहिला सत्यार्थ-प्रकाश ही स्वामी जी रचित है, क्योंकि द्वितीयावृत्ति मे यह जो मन्त्र लिखा है सि सूत्र मे बुद्धिपूर्वक 'योगाङ्गानुष्ठानात्' इसकी जगह 'प्राणायामात्' ऐसा पाठ बदलकर लिखा है, जिसमे अर्थ भी वहा असंगत ही लिखा हुआ है, पंचमावृत्ति आदि सत्यार्थप्रकाश मे सूत्र का पाठ तो ठीक कर दिया है परन्तु अर्थ वही असगत ही बना रखा है। यदि समाजी भाई कहे कि द्वितीयावृत्ति सत्यार्थप्रकाश मे भी स्वामी जी ने ही वह सूत्र व सूत्र का अर्थ लिखा है तो यह कहना समाजियो के लिए उचित नहीं, क्योंकि इस कहने से सूत्र के पाठ बदलने व असगत अर्थ लिखने का दोष स्वामी जी के शिरपर आता है, इसमे समाजी सम्यक् विचार करे।

हे वादिन! समाधि पर्यन्त योग के अष्ट अंगो के अनुष्ठान से क्रम २ से रजोगुण, तमोगुण अशुद्धि के क्षय हुए आत्मा के साक्षात्कार रूप विवेक ख्यातिपर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है। यह उस सूत्रका अर्थ है, प्राणायाम से ही विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता।

इसी से योग शास्त्र मे "यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार" यह पांच साधन बहिरंग कहे है और "धारणा, ध्यान, समाधि" यह त्रय अन्तरंग कहे है।

योगशास्त्र - "ततः क्षीयतेप्रकाशावरणम्" २-५२। धारणासु चयोग्यतामनसः २।५३।। उस प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाशरूप बुद्धि का पापरूप आचरण क्षय हो जाता है ।।५२।। और धारणाओं मे चित्त की योग्यता होती है ।।५३।। इन दोनो सूत्रो मे पाप की निवृत्ति व धारणाओं मे योग्यता रूप प्राणायाम का फल कहा है। हे भाइयो ! यदि प्राणायाम से ही विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश हो सके तो योगशास्त्र मे कहे धारणा ध्यान आदि अन्य साधन व्यर्थ होंगे। अतः सत्यार्थ प्रकाश मे (प्राणायाम से ही विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है) यह लिखा अर्थ असंगत होता है, ऐसे २ आर्ष ग्रथो के पाठको बदल कर असंगत अर्थों के लिखने वाले कई समाजियो का प्रक्षिप्तवाद भी असत्य ही है।

स्वामी दयानन्दजी का पहिला मुख्य श्रद्धालु शिष्य राजा प्रतापसिंह जी ने स्वामी जी से प्रश्न किया कि मास खाना योग्य है या नहीं ? हम खाए या नहीं ? इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया कि गृहस्थ जनो के लिये खाना योग्य है। यदि आप क्षत्रिय बने रहना चाहो तो खाओ, यदि आप शिकार बनना चाहते हो तो मत खाओ। स्वामी जी के उपदेश का अनुगामी राजा प्रतापसिंह जी ने बहुत पण्डित लगा कर ऋग्वेदादिकों के प्रबल प्रमाणो से पशु बलिदान व मासभक्षण विषय का ग्रथ बहुत भागो मे बनवाया, यह वृत्तान्त समाजी भाई जानते ही है। उनमे से एक भाग "आमिष समीक्षा" नाम का मेरे पास भी है। इस पर प्रतापसिंह के और प्रकाशानन्द, देवीचन्द्र शास्त्री भास्करानन्द, रामदयालसिंह आदि समाजी भाइयो के प्रशसापूर्वक हस्ताक्षर भी है। और डी० ए० वी० कालिज के संस्कृत प्रोफेसर पं० राजाराम ने भी हिन्दी भाष्य मे मास के खाने का व छः मास के बच्चे का भी मास के खिलाने का विधान लिखा है। तो यह वाममार्गी तो नहीं हुए किन्तु वह समाजियों मे प्रधान माननीय है। उन्होंने उन वचनों को प्रक्षिप्त नहीं कहा है तो तुम उन प्रधान समाजियो के विरुद्ध तथा पुरातन भाष्यकार टीकाकरों के विरुद्ध प्रक्षिप्त २ क्यो मिथ्या लिखते हो व मिथ्या कहते हो। हाकिमो के हुक्म से भी अधिक माननीय योगयुक्त पुरुषों के विधि वचनों के निरादर करने से उन अनिष्ट फलों का होना सम्भव ही है। अतः तुलसीराम स्वामी का प्रक्षिप्त २ कहना युक्ति व प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण असत्य है।

समाजी भाई—सम्वत १९३५ के विज्ञापन में स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है कि—मेरे बनाए सत्यार्थप्रकाश व सम्कारविधि आदि ग्रंथोंमें गृह्यसूत्रों मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे है, वे उन उन ग्रन्थों के मतों को जताने के लिये लिखे है।

ग्रंथकर्ता -बहुत क्या कहूँ ऐ समाजी भाइयो ! स्वामी दयानन्द जी के इस लेख से भी तुम्हारा प्रक्षिप्तवाद खंडित हुआ, अर्थात् अजशश कतित्तिर आदिकों के बलिदान व मांस भक्षण विषय के वचनों को प्रक्षिप्त २ कहना असत्य ही सिद्ध हुआ, तथ हि सुनिये।

उस सम्वत् १९३५ के विज्ञापन मे तो प्रथमावृत्ति ही सत्यार्थ-प्रकाश था, प्रथमावृत्ति ही सस्कारविधि ग्रंथ था, स्वामी दयानन्द जी उस १९३५ के विज्ञापन में लिखते हैं कि—'मेरे बनाए सत्यार्थप्रकाश व संस्कार विधि आदि ग्रथों में गृहसूत्रो मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत से लिखे है। वे उन ग्रथों के मतों को जताने के लिए लिखे है।'

स्वामी जी के इस लेख से सिद्ध हुआ कि सस्कारविधि आदि ग्रथों मे जो जो गृहसूत्र उपनिषद आदि के मास भक्षण विषय के वचन लिखे है वो वो गृह्यसूत्र उपनिषद आदिकों का मत है।

हे समाजी भाइयो ! जब स्वामी दयानन्द जी गृह्यसूत्र उपनिषद आदिकों का मत लिखते हैं तो स्वामी जी के इस लेख से तुम्हारा प्रक्षिप्त २ कहना असत्य ही सिद्ध हुआ। फिर उपनिषद आदिकों के मत के अनुसारी होकर इतिहास पुराणादिकों मे भी अज आदिकों के बलिदान व मांस भक्षण विषय के वचनों को प्रक्षिप्त २ आप कैसे कह सकते हो। अत. प्रक्षिप्तवाद सर्वथा असत्य ही है। इससे देवता आदिकों के निमित्त कर अज आदिकों का बलिदान व होम करके मांस भक्षण करना वैदिक धर्म है।

१५ शंका—यदि यह वैदिक धर्म है तो वैदिक मत वाले हिन्दुओं की उस पशु बलिदान व मांस भक्षण से प्रवृति दूर क्यों हुई वैदिक व उस धर्म में ग्लानि क्यो हुई।

समाधान जैनी साधुओं के व्याख्यानों द्वारा जैनमत का असर हिन्दुओं में बेसमझी से होकर हिन्दुओं की उस वैदिक धर्म मे प्रवृत्ति दूर हो गई और "अज आदिकों का बलिदान व मांस भक्षण नीच कर्म है पाप का हेतु है" ऐसा जैनियों का घुमंडा हुआ 'होने के समान' भ्रम हिन्दुओं में भी घुडस गया उससे उत्तम गति के हेतु भी उस वैदिक धर्म में हिन्दुओं की क्रम क्रम से ग्लानि दृढ़ हो गई।

हे वादिन ! जैन भाई आप भी यह स्पष्ट कहते हैं देखो —

[प्र० ३२] जैनी आत्माराम जी के श्रीमज्ञान त्रिंशिका ग्रन्थ की भूमिका के ७वें पृ० की ७वीं पंक्ति में —

ब्राह्मणों के धर्म को, वेदमार्ग को तथा यज्ञ में होती हिंसा, को खरा धक्का इसी धर्म ने लगाया है। बुद्ध के धर्म ने वेदमार्ग का इन्कार किया था जिसका अहिंसा का आग्रह नहीं था, यह महा दयारूप प्रेम रूप धर्म तो जैन का ही हुआ कुल हिन्दुस्तान में से पशु-यज्ञ निकल गया है फक्त एक दक्षिण में जहा बौद्ध या जैनों की छाया पड़ नहीं सकी है वहा ही कायम है।

जैनी भाइयों के इत्यादि लेखों से निःसंशय जाना जाता है कि वो पशु-बलिदान व मांस भक्षण विषय के वाक्य प्रक्षिप्त नहीं है, किन्तु हिन्दुओं में जैन मत का असर होने से उस वैदिक धर्म को छोड़ा गया। उससे अज आदि के बलिदान व मांस भक्षण रूप उस वैदिक धर्म का प्रचार न रहा।

अय समाजी भाइयो ! जैनमत हजारों वर्षों से प्रचलित है ऐसे पुरातन जैनी भाइयों के लेखों के विरुद्ध आधुनिक नवीन कई समाजियों का उन वचनों को प्रक्षिप्त २ कहना असत्य ही है।

६६—भीम ज्ञान त्रिंशिका की भूमिका के पृ० ८ पं० १ से देखिए। मि० बालगंगाधर तिलक जी ने बड़ोदा कॉन्फरेन्स में कहा था कि (तिलक जी का भाषण) पहले ब्राह्मण और जैनधर्म का बड़ा झगड़ा चलता था, अहिंसा तत्व के निकालने में बड़ा विवाद हुआ था, ब्राह्मण कहते थे कि वेद में पशु-यज्ञ करने की आज्ञा है तो हम किस तरह छोड़ें, जैन उपदेशकों ने जवाब दिया कि वेद में हिंसा होवे तो वह वेद और हिंसा से तृप्त होने वाले देवता हमको मान्य नहीं, मतलब कि वेद में पशुयज्ञ फरमाने वाला जो श्रौत प्रकरण है उससे ही जैनों को वेद प्रमाण भूत नहीं मानने का कारण मिला है, अन्त में ब्राह्मणों ने जैनों का अहिंसा धर्म स्वीकार किया। जैन धर्म का तत्व ज्ञान यद्यपि आज प्रचार में नहीं है तथापि जैनों के अहिंसादि आचार की छाप आज ब्राह्मण धर्म पर पूर्ण रूप से बैठी हुई है, पंच द्राविड आदि ब्राह्मणों में मांस भक्षण दूर हुआ है। यह जैनों का ही प्रताप है। वैष्णव धर्म में यज्ञ करने के समय पिष्ट पशु हवन करने का प्रकार है। वो भी जैन धर्म के ब्राह्मणों के ऊपर हुए असर से उत्पन्न हुआ, जीते हुए पशु के बदले पिष्ट पशु का रूपान्तर है।

इत्यादि बालगंगाधर तिलक जी के भाषण से भी सिद्ध है कि वेद पशु यज्ञ में करनेकी आज्ञा होने से पहले ब्राह्मण आदिकों में वह पशु

बलिदान व मास भक्षण रूप वैदिक धर्म मे बहुत प्रचलित था, फिर जैनमत का असर होने पर हिंदुओ से वह वैदिक धर्म छोडा गया, अर्थात् जैनधर्म का असर होने पर हिन्दू भाई सगी हुई जाति के पद पर (दर्जे पर) पहुच गये। अत कई एक नवीन समाजी भाइयो का उन वचनो को प्रक्षिप्त २ कहना मि० बालगगाधर तिलक जी के प्रमाणो से भी खण्डित है। भाव यह है कि बहुत लोग तो मास भक्षण विषय मे अपनी २ राय से निर्णय करते है श्रुति स्मृति आदि प्रमाणो के विचार को देखने की भी अपेक्षा नही रखते, वो लोग धर्माधर्म के ज्ञान मे (नादान है) बाल है, क्योकि वह लोग यह नही जानते कि धर्म अधर्म अतीन्द्रिय पदार्थ है। चक्षु आदि इन्द्रियों से जिनो का प्रत्यक्ष न हो सके उनों को अतीन्द्रिय कहते है। विहित और निषिद्ध कर्मो के करने जन्य चित्त मे जो सस्कार रूप धर्म अधर्म होते है वे भी अतीन्द्रिय पदार्थ है, अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष, योगी जनों को ही हो सकता है, अयोगी पुरुषों को नही हो सकता, इसी से अतीन्द्रिय पदार्थों मे बहुत लोगो के विवाद होते है।

हे वादिन् अतिन्द्रिय होने से धर्माधर्म ज्ञान भी योगी पुरुषो के रचित शास्त्रों से ही हो सकता है। इसमे 'देखें' प्र० १२७ को।

बहुत लोग मास भक्षण विषय मे परस्पर जिदो जिदी से धड़बन्दी कर रहे है, उनको यदि कोई विद्वान उस विषय मे प्रमाण दिखलावे तो उन प्रमाणो से निरुद्ध हुए वे लोग 'थके हुए मनुष्य के समान' प्रक्षिप्त २ कथन रूप डगोरा का या ब्राह्मण भाग सूत्र स्मृति आदि को अप्रमाण कथन रूप डगोरी का सहारा लेते है। अत समाजी भाइयों का प्रक्षिप्त कथन डगोरी रूप है, असत्य ही है।

हे पाठको! योगयुक्त ऋतम्भराप्रज्ञ महर्षियों के वचनो को आधुनिक अयोगी जनो ने अप्रमाण कहना भी नास्तिकता से बिना नहीं हो सकता क्योंकि योगजन्य ज्ञान सत्य धर्म को ही करने वाला होता है, अत योगीन्द्र महर्षियों के वाक्य आस्तिक जनों मे परम प्रमाण माने जाते है इससे अज आदिको के बलिदान व मास भक्षण विषय मे योगयुक्त महर्षियों के वचनो को अप्रमाण कहना व प्रक्षिप्त कहना असत्य ही है।

—लुप्तधर्म प्रभाकर.

—०—

सत्यार्थप्रकाश

(२)

हम ऐसी कुल किताबें काबिले ज़ब्ती समझते हैं।
जिन्हें पढ़-पढ़के बच्चे बापको खब्ती समझते हैं।।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण सन १८७५ में छपा था। असली सत्यार्थप्रकाश वही है। उसमें मृतक श्राद्ध तथा मांस का विधान है। श्री स्वामी जी उस सत्यार्थप्रकाश का तीन वर्ष तक प्रचार करते रहे। जनता को अपने करकमलों से देते रहे हैं।

संसार का कोई भी बुद्धिमान इस बात को नहीं मान सकता कि तीन साल तक श्री स्वामी जी ने उसको पढ़ा ही नहीं था। यह स्वामी जी की प्रथम पुस्तक थी, प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रथम कृति को बड़े चाव से देखता है। यह स्वभाविक बात है। यदि हम यह भी मानलें कि स्वामी जी ने उसको नहीं पढ़ा था तो क्या अन्य शिष्यों ने भी तीन वर्ष तक उसको नहीं पढ़ा था। क्या इस बात को कोई भी स्वीकार कर सकता है। क्योंकि उस समय की यह एक नई लहर थी जनता में बड़ा उत्साह था, स्वामी जी के सिद्धांतों के जानने की लोगों में बड़ी उत्कण्ठा थी। अत यह मानना कि तीन वर्ष तक उसको जनता ने नहीं पढ़ा सत्य पर जान बूझकर परदा डालना है। यदि हम इन बातों पर ध्यान न भी दें तो भी वही सत्यार्थप्रकाश असली सिद्ध होता है। उसके अनेक कारण हैं।

१— श्री स्वामी जी उस समय मृतक श्राद्ध व मांस भक्षण को वेदानुकूल मानते थे। तथा इसका प्रचार भी करते थे। जब सं० १८७५ में फर्रुखाबाद गये तो उस समय आप मृतक श्राद्ध का मण्डन करते थे तथा क्षत्रियों के लिये शिकार का तथा मांस खाने का विधान बताते थे। क्षत्रियों के लिये शिकार का तथा मांस खाने का विधान तो अन्तिम समय तक मानते थे। इसके सैकड़ों प्रमाण हैं -

श्री स्वामी जी के अनन्य भक्त राजा प्रतापसिंह जी ने जोधपुर में स्वामी जी से प्रश्न किया कि हम लोग मांस खायं या नहीं। तो आपने बड़े सुंदर शब्दों में उत्तर दिया कि यदि आप क्षत्रिय बना रहना चाहते हैं तो खाओ यदि आप शिकार (गुलाम) बनना चाहते हैं तो मत खाओ। देखो लुप्त धर्म प्रभाकर पृ० १६६।

तथा अन्य सैकड़ों पुरुष राजपूताने में थे जिनको स्वामी ने मांस का उपदेश इन्हीं शब्दों में दिया था। राजा महेन्द्र प्रतापसिंह ने आर्य समाजी विद्वानों को बुलाकर उन सब प्रमाणों को सम्मुख रखवा तथा इन विद्वानों से मांस भोजन विचार पुस्तक तैय्यार करवाई जो कई भागों में छपी थी। उसमें वेद व शास्त्रों के वे सब प्रमाण भी हैं जिनको स्वामी जी अपनी पुष्टि में देते थे।

अभी कुछ दिन हुए हैं कि आर्यसमाज में आन्दोलन पं० विश्व-बन्धु जी आदि द्वारा चलाया गया था, इसका मुख्योद्देश्य आर्यसमाज की सकीर्णता मिटा कर उसका क्षेत्र विशाल बनाने का था। परन्तु आर्यसमाज जिसने कि अपनी विद्या और बुद्धि को गिरवी रख दिया है वह इस प्रकार की बातें कब सुनने लगा था। अन्त में पं० विश्वबन्धु जी को ही इससे पृथक होना पड़ा। इस आन्दोलन में एक 'सत्यार्थ-प्रकाश माला' नाम की पुस्तकें निकलना आरम्भ हुआ था इसकी सं० १ "दश-प्रश्नी" नामक पुस्तक सं० १९९० वि० में दयानन्द प्रेस लाहौर में छपी थी। इसमें श्री स्वामी जी महाराज के प्यारे आर्य समाज लाहौर के पहले प्रधान परोपकारिणी सभा अजमेर के प्रमुख अधिकारी रायबहादुर लाला मूलराज जी एम० ए० का बयान छपा है। जो इस प्रकार है।

प्रश्न (६) क्या श्री स्वामी जी के ग्रन्थ जैसे उन्होंने बनाये थे वैसे ही चले आते हैं ?

उत्तर (६) - नहीं। सत्यार्थप्रकाश प्रथमवार १८७५ में तथा संस्कारविधि १८७७ में छपे थे। यह एक प्रसिद्ध बात है कि इन ग्रन्थों में कई ऐसे विषय हैं जिनका इनमें एक प्रकार से वर्णन पाया जाता है और इन्हीं के दूसरे संस्करण में, श्री स्वामी जी के देहान्त के उपरान्त छपे, दूसरे प्रकार से मिलता है। पहले सत्यार्थप्रकाश में (पृ० ३०१-३०२) में श्री स्वामी जी ने यह शिक्षा दी थी कि मांस तथा अन्य खाद्य पदार्थों का यज्ञ में होमने के पश्चात सेवन किया जावे। पहली संस्कारविधि में (पृ० ४२) में उन्होंने अन्न प्राशन संस्कार के अवसर पर बच्चों को तीतर का शोरबा पिलाने का विधान किया था। इन बातों का अब प्रचलित इन ग्रंथों में कोई इशारा नहीं पाया जाता। यह ठीक है कि कुछ बातों को श्री स्वामी जी ने स्वयं बदला था। परन्तु इस में भी सन्देह नहीं कि दूसरे लोगों ने भी बीच में दखल दिया है। इस बारे में, मैं आपको दो विशेष घटनायें सुनाता हूं।

सन १८९१ के आरम्भ में मुन्शी समर्थदान, भूतपूर्व मैनेजर वैदिक यन्त्रालय, अमृतसर में मुझे मिलने को आये। उन्होंने उस अवसर पर मुझे बताया कि श्री स्वामी जी ने दूसरे संस्करण के भक्ष्य अभक्ष्य सम्बन्धी, दसवें समुल्लास में मांस खाने की इजाजत दी हुई थी। परन्तु क्योंकि उन दिनों वह मांस भोजन के बड़े विरोधी थे, उन्होंने श्री स्वामी जी की अनुमति के विरुद्ध, अपनी इच्छानुसार, उन पंक्तियों को छपने नहीं दिया। जब उसी वर्ष सितम्बर महीने में मैं परोपकारिणी सभा की बैठक में शामिल होने के लिये अजमेर गया, तो उन्होंने मुझे वह मूल हस्तलिखित ग्रन्थ निकलवाकर दिखलाया, जिसके हाशिए पर श्री स्वामी जी ने मांस विषयक पंक्तियों को अपने हाथ से लिखा हुआ था, वह ग्रन्थ इस समय तक वैदिक यन्त्रालय अजमेर में सुरक्षित रखा हुआ है और अब तक कितने ही और व्यक्ति उसे देख चुके हैं। परोपकारिणी सभा में एक दूसरी बात पर भी विचार किया गया था। आर्यसमाज के लोगों में इस बात पर बड़ा दुःख मनाया जा रहा था कि सत्यार्थप्रकाश का तथा संस्कार विधि के दूसरे संस्करणों में कितनी ही बातें अशुद्ध छापी गई थीं। उसके इलाज के लिए वहां पर एक उप सभा बनाई गयी थी ताकि वह ग्रन्थों को ठीक करे। तत्पश्चात् उस उपसभा द्वारा शोधित हो कर यह ग्रंथ छपे।

इस प्रकार के हस्तक्षेपों के सिवाय, एक और भी प्रकार था जिससे श्री स्वामी जी के ग्रन्थों में दूसरों का हाथ समझा जा सकता है। १८७७ के पीछे उन्हें बहुत ही अधिक कार्य करना पड़ता था। वह प्रातःकाल से लेकर रात तक स्वाध्याय, विचार, शास्त्रार्थ, वार्तालाप तथा व्याख्यान आदि में लगे रहते थे। फिर साथ ही वह लगातार यात्रा पर भी रहते थे। इस परिस्थिति में वह अपने नियुक्त पंडितों को पास बिठाकर बोलकर लिखाते जाते थे। बहुत बार जो कुछ वह चाहते थे, उसका आशय उन्हें समझा देते थे और उन्हें अपने आप लिख लेने को कह देते थे। वह स्वयं अपने हाथ से कभी ही कुछ लिखते थे। वेदभाष्य का संस्कृत भाग उन्होंने इस प्रकार बोलकर लिखाया था। हिन्दी भाग पंडितों का बनाया तथा लिखा हुआ है। २८ दिसम्बर १८८३ को परोपकारिणी सभा की बैठक हुई उसमें श्री स्वामी जी जितना वेद-भाष्य कर गये थे, इसे नोट किया गया तथा उसके हिन्दी भाग को बनाकर पूरा करने के लिये पण्डित भीमसेन तथा पण्डित ज्वालादत्त को पच्चीस रुपया माहवार पर नौकर रखा गया। इस विवरण से यह पता लग सकता है कि किस प्रकार श्री स्वामी जी के वर्तमान ग्रन्थों के बारे में यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता है कि

कौन से शब्द या वाक्य उनके अपने है और कौन से दूसरे लोगो के है।

प्रश्न (१०)—अब आर्यसमाज की उन्नति कैसे हो सकती है?

उत्तर (११)—जो कुछ इसका प्रवर्तक चाहता था कि हम करें, उस पर आचरण करने से ही आर्यसमाज बढ़ सकता है। श्री स्वामी जी ने प्रत्येक आर्यसमाजी व्यक्ति के लिये दस नियमो पर आचरण करते हुए स्वयं पूर्ण उन्नत होना तथा दूसरों का भला करते रहना जरूरी बताया था। हमें चाहिये कि हम इसी बात को सदा अपने आगे रखे। जैसे वह अपने सब मन्तव्यो तथा विचारों को अपने व्यक्तिगत मन्तव्य तथा विचार समझ कर किसी के लिये भी उनका अन्धविश्वास के आधार पर मानना जरूरी नही करते थे, वैसे ही हम सबको उनके मन्तव्यो के बारे मे तथा आपस में एक दूसरे के विचारो के बारे मे या बहुपक्ष के बारे मे सब के लिये स्वतन्त्रता देने दिलाने का व्यवहार करना उचित है। प्रेमपूर्वक सब कोई आपस में समझें और समझायें, परन्तु जब किसी दार्शनिकवाद या विचार के बारे में या वेदभाष्य के बारे मे या किसी सूक्ष्म विषय मे किसी को कुछ सन्देह हो या किसी का दूसरा मत हो, तो उस समय यह समझना चाहिये कि जब तक हमारा व्यक्तिगत तथा समाजगत आचरण तथा व्यवहार हमारे मौलिक दस नियमों के अनुसार चलता है, जब तक कडे से कडे मतभेद या सन्देहो के होते हुए भी हम सब मिलकर आर्यसमाज मे काम कर सकते है। किसी को इससे अलग होने की या करने की केवल इन बातो के आधार पर, श्री स्वामी जी महाराज की शिक्षा तथा व्यवहार को देखते हुए कोई गुंजाइश नही प्रतीत होती। जैसे उन्होंने खानपान के बारे मे स्वास्थ्य तथा आयुर्वेद के नियमो के अनुसार शुद्धि तथा पुष्टिका ध्यान रखते हुए, शेष बातों को रुचि तथा जलवायु, देश-विदेश आदि के हालात पर व्यक्तिगत निर्णय के आधीन कर दिया था, वैसे ही हमारी भी इन बातों मे धारणा तथा नीति होनी चाहिए उनके विचार-व्यवहार तथा रीति नीति का पूरा आदर करते हुए भी, हमें सदा अपनी अपनी योग्यता के अनुसार उन्ही की तरह स्वतन्त्र तथा सत्य-प्रिय बनने का यत्न करते रहना चाहिए। जो लोग यह समझते है कि क्योंकि श्री स्वामी जी ने आर्यसमाज बनाया है, इसलिये इस मे रहने के लिये यह जरूरी है कि उन्ही की हर एक बात को माना जावे, वह बड़ी भूल करते है, उनके साथ घोर अन्याय करते है आर्यसमाज को एक अति संकुचितपने के गढ़े मे गिराना चाहते है। यदि आज श्री स्वामी जी मौजूद होते तो वह सब से पहिले आर्यसमाज के इन अनजान हत

चिन्तकों को पूर्व कहे प्रकार से अपना भाव समझाते और सीधे मार्ग पर लाते।

उपसंहार

प्रिय पाठक! इतना ही वह वार्तालाप था, जिसमें आपको सुनाने के लिये प्रस्तुत हुआ था। इसे सुनकर अवश्य आपको सोचना होगा कि हम सब अपने आपको आर्यसमाजी कहने कहाने वाले लोग किधर को जा रहे हैं। हमें चाहिए कि हम अलग अलग तथा मिलकर निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर अपने आप से पूछें —

१— क्या हमारे व्यक्तिगत जीवन में हमें भक्ति-रस का अनुभव होता है? क्या उसके द्वारा हमारा चित्त सदा शांत, प्रसन्न तथा भलाई करने को तैयार रहता है? क्या हम सचमुच सर्व-व्यापक परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं? क्या हमारा आचरण उसको प्रसन्न करने वाला होता है? क्या हम सचमुच उसकी पूजा करते हैं? क्या हम जिन शब्दों को भगवान के लिये कहते हैं, उन्हें अपने हृदय से सोचकर समझकर, उनके अनुसार उच्च बनने के भाव से कहते हैं?

२—क्या हम सचमुच वेद की पूजा करते हैं? क्या हम उसका नित्य पठन-पाठन तथा श्रवण श्रावण करते हैं? क्या हम उसे सार्व-जनिक बनाने के लिये, उसके मर्मज्ञ विद्वान होकर उसे देश, विदेश की भाषाओं में कर चुके हैं? क्या हमारा धन इस प्रकार गहरे, विस्मृत तथा विद्वानों को प्रवाहित करने वाले, सच्चे "वेदप्रचार" में सन्तोपजनक प्रकार से व्यय होता है?

३—क्या हम सचमुच विद्या प्रेमी हैं? क्या हमारे मध्य में साहित्यिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में प्रतिष्ठित, विशाल मति, धुरन्धर विद्वानों की पर्याप्त संख्या पाई जाती है? क्या हमने वह उच्च कोटि का दार्शनिक तथा साहित्य उत्पन्न किया है जिसके आगे आर्यसमाज से बाहर के उच्च विद्वानों का मस्तक झुकता हो?

४ — क्या हम सचमुच अविद्या को दूर करने में लगे हुए हैं? क्या कभी हमने अपने अन्दर भी अविद्या को देखा है और उसे दूर करने का यत्न किया है?

५—क्या हम सचमुच सत्यको ग्रहण करने और असत्यको त्यागनेको उद्यत रहते हैं? क्या कभी हमें यह सूझा है कि हमारे अपने विचार तथा व्यवहार में भी कुछ असत्य हो सकता है? क्या हम उनके शोधन के लिए सदा तय्यार रहते हैं? क्या यह कहने का हम में साहस है कि हमारी अमुक बात मिथ्या थी? इसलिये हमने उसे छोड़ दिया है या

छोड़ देते हैं ? क्या हम लोक अपवाद से भयभीत होकर सत्यको दबाने तथा असत्य को ऊपर करने मे सहायक या निमित्त तो नहीं होते ?

६—क्या हम सचमुच सबके साथ प्रीति पूर्वक, न्याय तथाधर्म के अनुसार व्यवहार करते हैं ? क्या हम राग द्वेष के अधीन हो कर अपने या अपनी संस्थाओ के बीचमें अभात्मक लाभ के लिए, कूटनीति दंभ शत्रुता आदि का व्यवहार तो नहीं करते ?

७—क्या हम सचमुच अपनी उन्नति में सन्तुष्ट न रहकर मनुष्य मात्र के उपकार में लगे रहते हैं ? क्या हम में ऐसा करने की शक्ति पैदा हुई है क्या हमारा अपना आचार व्यवहार सम्पत्ति वैभव तथा विद्याविज्ञान इतना उन्नत हो गया है कि हम औरों के विकास की ओर भी ध्यानदे हमारीअपनी शारीरिक मानसिकतथाआत्मिकस्थितीकैसीहै?

८—क्या हम सचमुच सामाजिक विकासको चाहते हैं ? क्या हमने उसके तत्व को समझने का कभी यत्न किया है ? क्या हमने मिल कर रहना सीख लिया है ? क्या हमने आदर्श संघटन के मार्ग का विस्तार किया है? क्या हमारे यहा नर नारी, बाल वृद्ध,धनवान, निर्धन छोटे-बड़े, सबको अपनीर योग्यता तथा रुचि के अनुसार उन्नत होते हुए, समाज सेवा का अवसर मिलता है ? क्या हम में भिन्न भिन्न रुचियों तथा समझों के प्रति पूरा आदर तथा सहिष्णुता भाव पाया जाता है ?

९—क्या हमारा सामाजिक ढाचा ठीक काम करता है ? क्या उसका मुख व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को हड़प करने के लिए ही तो नहीं खुला रहता ? क्या समाज व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाले खान-पान, पहन-पोशाक, रहन, सहन तथा विद्या-विज्ञान के बाद विचारों और सूक्ष्म सिद्धान्तों के झगड़ों में तो नहीं पड़ा रहता ? और क्या व्यक्ति समाज को अनुचित रूप से अपने अधीन तो नहीं करते रहते ? क्या वह बहुपक्ष का प्रबन्ध आदि की बातों में अनादर तो नहीं करते ? क्या वह अधिकारों के लोभ में आकर निरकुश तो नहीं हो जाते ? क्या समाज और उसकी संस्थाओं के अधिकारों से अनुचित लाभ तो नहीं उठाया जाता ?

१०—क्या आर्यसमाज सचमुच श्री स्वामी जी की इच्छानुसार साम्प्रदायिक और पक्षपाई भाव से ऊपर उठे हुए निष्पक्षपात, सत्य-ग्राही, हिन्दूमात्र को अपने प्रेमपाश में बांधकर एक मुठ कर सकने वाले श्रेष्ठ लोगों की मण्डली है ? क्या वह कहीं हिन्दुओं के एक

सम्प्रदायमात्र की तरह तो नहीं हो रहा है? क्या इसके अन्दर वह उदारता और भाव की विशालता मौजूद है? जिसके आधार पर सब सम्प्रदायों में इसके भक्त मौजूद हों और यह विश्व-व्यापक वैदिक सन्देश को सब ओर सुना सके। प्रिय पाठक! आओ, इस मेले की भीड़ भड़क्के से कहीं अलग बैठकर इन व्यक्तिगत तथा समाजगत प्रश्नों पर विचार करें। आओ, किसी नीति निर्णायक, सत्य निश्चय पर पहुँचें। आओ, इस पवित्र पर्व के मूल नायक उस महापुरुष के उच्च आदर्श का चिन्तन करें। आओ, आज से उसकी ओर जो ठीक मार्ग जाता है, उस पर चलना शुरू करें। आओ सत्य भक्ति को हृदय में स्थान दो और मानुष जीवन के परम लक्ष्य की ओर बढ़ो। वह देखो, ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त, सब ऋषि मुनि उसका दिग्दर्शन कराते हुए तुम्हें सचेत कर रहे हैं। उठो, निद्रा और तन्द्रा को छोड़ो और उनके इशारे को समझो। सकल संसार तुम्हारे मुंह की ओर आशा भरी टिकटिकी लगाए हुए खड़ा है।

(२) तथा च प्रथमावृत्ति संस्कार विधि में भी, स्वामी जी ने मांस का विधान सप्रमाण किया है। यह संस्कार विधि प० काश्मीरीलाल जी सनातनधर्मी के पास हमने ता० २-८-४४ को लुधियाने में उनके मकान पर देखी। उसके पृष्ठ ११ पर बृहदारण्यक का यह प्रमाण देकर लिखा है (अथ य इच्छेत) जिसका भाव यह है कि जो चाहे मेरा पुत्र पण्डित, शूरवीर, शिक्षित, विद्वान, पूर्ण आयु हो, तो वह मांसयुक्त भात को पकाकर घी के साथ खाये, तो वैसा पुत्र उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार आगे भी कई स्थानों पर है। इसका विशेष वर्णन हम प्रथम कर चुके हैं।

(३) तीसरा कारण इस सत्यार्थप्रकाश के नकली होने का यह है कि यह सत्यार्थप्रकाश श्री स्वामी जी के स्वर्गवास के दो वर्ष बाद छपा था। इस विषय में परोपकारिणी सभा के मन्त्री श्री हरविलास जी शारदा ने लिखा है कि—

'स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश की पुरानी हस्त-लिखित प्रति को दूसरे संस्करण के लिए शुद्ध किया, परन्तु शोक है कि उसके छपने के पूर्व ही स्वामी जी का स्वर्गवास हो गया और परोपकारिणी सभा ने उस दूसरे संस्करण को सन १८८४ ई० में प्रकाशित किया। स्वामी जी के हाथ से उसके प्रूफ देखने का सौभाग्य इसको प्राप्त न हुआ।' (शताब्दी संस्करण, भूमिका पृष्ठ १६)

उपरोक्त लेख से तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

करने के सम्पूर्ण अधिकार उक्त राजा साहब ने स्वत अपने किये है। इसलिए पुन छपवाना या न छपवाना, सब उनके ही आधीन है।

ता० १६ जून सन १८८२

मिस्टर पनी गगड सिह वर्ट एडवोकेट हाईकोर्ट बम्बई।

इस उत्तर मे निम्नलिखित बाते स्पष्ट होती है--

(१) स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश मे जो श्लोक जैनियो के नाम से लिखे थे उनके विषय मे स्वामी जी को कुछ भी ज्ञान नहीं था कि ये श्लोक किसके है। फिर स्वामी जी ने उनको जैनो के नाम से क्यो छपवाया। क्या इसी योग्यता के भरोसे कि 'किसी के होगे, किसी के है' आपने अन्य धर्मो के खण्डन का बीडा उठाया था। साधारण से साधारण व्यक्ति भी इस प्रकार के उत्तराभास से कुछ लज्जा अनुभव करता। आप को तो एक महापुरुष की हैसियत से अपनी भूल को स्वीकार करके जैनो से क्षमा मागनी चाहिए थी। दु ख है आप इस परीक्षा मे बुरी तरह फेल हुए। इससे यह भी सिद्ध हो गया है कि 'सत्य को ग्रहण और असत्य को त्यागने के लिए सर्वथा उद्यत रहना चाहिए।' यह नियम जनता को धोका देने मात्र के लिए बनाया गया था।

ला० ठाकुरदास जी ने उसी समय एकदम वकील की मार्फत नोटिस दे दिया हो, जिससे स्वामी जी को विचारने का अवसर न मिला हो यह बात नही थी। अपितु लाला ठाकुरदास जी २ साल से स्वामी जी को पत्र पर पत्र दे रहे थे। जब स्वामी जी ने पत्रो का उत्तर नही दिया तो स्वामी जी को रजिस्ट्री चिट्ठिया दी गई। तथा भारतवर्ष के सभी पत्रो से उन पत्रो की नकल छपवाई गई। इस पर भी स्वामी जी ने कोई उत्तर न दिया तो आपको बिना वकील के नोटिस दिये गये। उनका उत्तर आपने एक महाशय से दिलवाया, जिसमे वे ही गालिया दी गई जैसा कि स्वामी जी का स्वभाव था, अर्थात् तुम कुछ नही जानते, मूर्ख हो आदि। प्रश्न तो यह था कि आपने जो श्लोक जैनो के लिखे है वे किस ग्रथ के है, उत्तर मे गालिया मिलती है। यदि इसी का नाम महात्मापन है तो वास्तव मे शोक की बात है। अभिप्राय यह है कि श्री स्वामी जी महाराज को पूरा ही नहीं अपितु अधिक से अधिक अवसर दिया गया कि वे अपनी भूल को अनुभव करे। उनकी आत्मा ने तो स्वीकार किया परन्तु अपनी आत्मिक निर्बलता के कारण उसको प्रगट करने मे अपना अपमान समझा। दूसरी बात जो स्वामी जी ने प्रगट की है वह यह है—

सत्यार्थप्रकाश से उनका सम्बन्ध, आपने स्पष्ट लिखा है कि सत्यार्थ प्रकाश को शुद्ध करने का, तथा बेचने का या छपवाने का अधिकार मुझको बिल्कुल भी नहीं है। इन सब बातों का अधिकार राजा जय-कृष्णदास जी को है। पुन परोपकारिणी सभा के मन्त्री का यह लिखना कि स्वामी जी ने प्रथमावृत्ति को शुद्ध किया है। जनता को कितना धोका देना है अत. वर्तमान सत्यार्थप्रकाश के जाली होने मे कुछ भी सन्देह नही है।

बम्बई के पश्चात् श्रीस्वामीजी सीधे उदयपुर चले आये। वहा उन दिनो, श्वेताम्बर साधु श्री झवेरसागर जी का चातुर्मास था, उन्होंने स्वामी जी को पत्र दिया कि आपने जो श्लोक सत्यार्थप्रकाश में दिये है वह जैनोंके नहीं। तथा उनसे भी यह विदित होता है कि आप जैन धर्म के विषय में कुछ भी ज्ञान नही रखते है, अत मेरी इच्छा है कि आप जैनधर्म का ज्ञान प्राप्त करले। इसके लिए मै भी सेवा करने को तैयार हूँ। स्वामी जी ने इस पत्र का कोई भी उत्तर नही दिया क्योंकि ऐसा करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते थे।

इसपर जैन साधु ने पुन पुन कई पत्र लिखे, जब किसी का भी उत्तर प्राप्त नही हुआ तो स्वामीजी को शास्त्रार्थ का चैलेज भेज दिया गया। क्योंकि स्वामी जी जैनधर्म के विषय मे कुछ नही जानते थे, अत वे शास्त्रार्थ के परिणाम से अपरिचित न थे, अत आपने शास्त्रार्थ के चैलेज का भी उत्तर नही दिया। जब अनेक पत्र देने पर भी कुछ उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो जैन साधु ने अपने स्थान पर (शास्त्रार्थ का खुला चैलेज लिखकर) बोर्ड लटका दिया, इससे उदयपुर में बडा खलबली पड़ी, स्वामी जी ने अपने शिष्य रामानन्द को जैन साधु के पास भेजा उन्होंने दो चार प्रश्न किये जिनका उत्तर उनको सतोषप्रद दिया गया।

इससे शहर मे शोर मच गया, परन्तु स्वामी जी फिर भी शास्त्रार्थ के लिए तैयार नहीं हुए। जब स्वामी जी बिल्कुल तंग आ गए तो महाराणा उदयपुर (श्री सज्जनसिंह जी) से उस बोर्ड को हटाने के लिए प्रार्थना की गई। जब जैन साधु को इसका पता लगा तो उन्होंने वहा के रेजीडैंट साहब से जाकर सारा वृत्तान्त कहा तथा उनसे न्याय की प्रार्थना की। दूसरे दिन रेजीडैंट साहब मौका देखने आए और बोर्ड को लगा रहने का हुक्म दे गये।

इसपर स्वामीजी ने उदयपुर से प्रस्थान करना ही उचित समझकर और आप वहां से चलकर चितौर गढ आ गये। वहा से जोधपुर चले

गये। जोधपुर आप बीमार हो गये, और इसके पश्चात आपने इस नश्वर शरीर का परित्याग कर दिया। अब महाशय लोग बताएं कि स्वामी जी को सत्यार्थ प्रकाश को लिखने का या शुद्ध करने का अधिकार कब प्राप्त हुआ। तथा उन्होंने कब लिखा या शुद्ध किया।

जालसाजी की भूमिका

जब यह नकली सत्यार्थप्रकाश छप चुका तो महाशय लोगों ने इस सत्यार्थप्रकाश को भी स्वामी जी रचित सिद्ध करने के लिए एक भूमिका, तैयार की जो इस प्रकार है।

भूमिका

जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था इससे भाषा अशुद्ध बनगई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इस लिए इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।

स्थान
महाराणा जी का उदयपुर
भाद्रपद-शुक्ल पक्ष संवत १९३९

(स्वामी)
दयानन्द सरस्वती

यद्यपि भूमिका लेखकने इसको बनाने के लिये अपनी सम्पूर्ण विद्या और बुद्धि को खर्च किया है, परन्तु उस गरीबको यह पता नहीं था कि झूठ बात को चाहे जितने शब्द भूषण पहनाए जायें, परन्तु वे शब्द ही उसको मिथ्या सिद्ध करने के लिए साक्षी दिया करते हैं। इसी प्रकार इन शब्दों ने भी लेखक की पोल खोल दी, यह शब्द साक्षी दे रहे हैं कि इनके लेखक ने प्रथम वृत्ति सत्यार्थप्रकाश के दर्शन नही किये। यही नही अपितु यह महाशय स्वामीजी के जीवन-चरित्र से भी नितात अपरिचित था। क्योंकि प्रथम सत्यार्थप्रकाश मे न तो कोई गुजराती का शब्द है तथा न भाषा की ऐसी अशुद्धियां है जितनी कि इस वर्तमान नकली सत्यार्थप्रकाश मे है। उस सत्यार्थप्रकाश की भाषा इस सत्यार्थ कप्राश से प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ तथा सुन्दर है। व्याकरण की दृष्टि से भी वह सत्यार्थप्रकाश इससे कई गुना अच्छा है। अगर इस महाशय ने वह सत्यार्थप्रकाश पढ़ा होता तो वह इस प्रकार की भूमिका कभी न लिखता।

प्रथम सत्यार्थप्रकाश संवत १९२८ वि० मे स्वामी जी ने अपने कर-

कमलों से लिखना आरम्भ किया था। जब उसका बहुत अधिक भाग लिखा जा चुका था, तब राजा जयकृष्णदास जी ने सहायता की थी। राजा जयकृष्णदास का पत्र लेकर स्वामी स्वयं काशी गये थे। वहां अपने सन्मुख उसको छपवाया था, तथा उसके बहुभागका प्रूफ भी स्वयं देखा था। रह गया गुजराती और संस्कृत का प्रश्न, जब से स्वामी जी ने निज घर का परित्याग किया, उस समय से लेकर जब यह भूमिका लिखी जा रही है, अनुमान ४० वर्ष होते हैं। इस४० वर्ष समय के लम्बे समय तक वे गुजरात में नहीं रहे। अपितु उस स्थान में रहे हैं जहां सर्वथा हिन्दी ही बोली जाती है, तो क्या स्वामी जी लोगों से गुजराती में बात-चीत किया करते थे। सारे जीवन में एक भी गवाही ऐसी नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि स्वामी जी गुजराती बोलते थे। पुन. "जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने से" यह लिखने का क्या प्रयोजन है, यह लेखक का आत्मा ही जानता था।

रह गया संस्कृत का प्रश्न, इसके लिये तो हम इतना ही निवेदन करते हैं कि स्वामी जी ने ४० वर्ष की अवस्था में केवल ढाई वर्ष संस्कृत पढ़ी है। ४० वर्ष की अवस्था में एक आजाद सन्यासी कितनी संस्कृत पढ़ सकता है, यह हमारे अनुभव का विषय है। अतः स्वामी जी ने कितनी संस्कृत पढ़ी होगी यह हम अच्छी तरह जानते हैं। अस्तु श्री स्वामी जी महाराज मथुरा से पढ़कर निकले तो आगरा, ग्वालियर, जयपुर अजमेर, पुष्कर, धौलपुर आदि अनेक स्थानों पर गये, इन सब स्थानों में श्री स्वामी जी हिन्दी भाषा में ही भाषण देते थे तथा सत्सग करते थे एवं वार्तालाप आदि करते थे। जयपुर में वैष्णवों से हिन्दी भाषा में ही शास्त्रार्थ हुआ था। उसके पश्चात् अजमेर में पादरी रावसन साहब से ४ दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा जिसमें हजारों जनता एकत्रित होती थी। किसी भी व्यक्ति ने अथवा पादरी साहब ने उनकी भाषा की अशुद्धि नहीं बताई। तथा च अजमेर में एक मौलवी साहब भी आये और उनसे भी घण्टों वाद विवाद होता रहा। इससे स्वामी जी के नाम की धूम मच गई, सैकड़ों महानुभाव आपसे शंका-समाधान करने आते थे, आप सबका उत्तर हिन्दी भाषा में ही देते थे। यह सन् १८६६ का वर्णन है। उस समय आप वेदान्ती थे! आप शिव की पूजा करते थे तथा सूर्य को अर्घ्य भी दिया करते थे। आप उस समय नमोनारायणाय (जिस प्रकार सनातनधर्मी साधु करते हैं) करते थे तथा इन्हीं शब्दों में उत्तर देते थे। पादरी साहब के साथ शास्त्रार्थ में भी स्वामी जी ब्रह्म की एकता का मण्डन करते थे तथा पादरी साहब इसका खण्डन।

वहां से श्री स्वामी जी किशनगढ़ में प्रचार करते हुए आगरे आ गए। वहां एक दरबार लगने वाला था, उसमें बांटने के लिये वैष्णव धर्म के विरुद्ध एक पुस्तक लिखकर हजारों प्रतियां उनकी बंटवाई तथा सैकड़ों महानुभावों की शकाओं का समाधान भी करते रहे! इस प्रकार स्वामीजी ने आठ वर्ष तक सैकड़ों स्थानों में हिन्दी में व्याख्यान दिये। अनेक शास्त्रार्थ किये तथा पुस्तकें भी लिखी परन्तु यह भूमिका लेखक महाशय भोले भाले लोगों को भ्रम में डालने के लिये लिखते हैं कि स्वामी जी ने हिन्दी भाषा पढ़ी अन्तिम समय में जाकर। धन्य!

तीसरी बात इसमें बड़ी सुंदर लिखी है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि यह भूमिका सत्यार्थप्रकाश के छपने के पश्चात् बनाई गई है। क्योंकि इसमें लिखा है कि "इस ग्रन्थ को व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है" इसमें "छपवाया है" यह शब्द सिद्ध कर रहा है कि यह भूमिका छपने के पश्चात बनी है।

जो ग्रन्थ दो वर्ष के बाद छपता है उसके लिये इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ करता। स्वामी जी की यदि भूमिका होती तो वे प्रथम इसके अधिकार का जिकर करते। क्योंकि अभी दो मास भी नहीं हुए थे कि अपनी कलम से (वह भी एक बहुत बड़े वकील की मार्फत) यह लिख आये थे कि मुझे शुद्ध करने अथवा छपवाने का कोई अधिकार नहीं अतः आवश्यक था कि वे लिखते कि मैंने राजा जयकृष्ण जी से अधिकार ले लिये हैं। इस मुख्य बात को यह लेखक भूल गया, क्योंकि यह स्वामी जी के दो वर्ष बाद लिखी गई थी। इस भूमिका में अनेक ऐसी बातें हैं जिन से इसका नकली होना प्रमाणित होता है। जिनका उल्लेख हम विस्तारभयसे यहां नहीं करते। तथा च स्वामीजी ने संवत ३४ में नोटिस उस सत्यार्थप्रकाश के विषय में निकाला था उसमें इन बातों का जिकर तक नहीं। श्री स्वामीजी ने स्वयं काशी में रहकर अपने हाथ से उस सत्यार्थप्रकाश को छपवाया था। तथा उसका प्रूफ भी अपने हाथ से ठीक किया था।

राजा जयकृष्ण की साक्षी

बाबू देवेन्द्रनाथ जी ने राजा जयकृष्णदासजी को पत्र लिखा उसके उत्तर में राजा साहब ने कहा कि "हो सकता है लिखने वा छापने वालों की भूल से ऐसा हो गया हो अथवा स्वामी जी के ही विचार बाद में बदले हों यह भी सम्भव है।"

इसमें राजा साहब ने यह नहीं कहा कि स्वामी जी गुजराती में बोलते थे अथवा संस्कृत में बोलते थे और पण्डितों ने इसका अनुवाद

किया है। यदि ऐसी बात होती तो वे इस बातका जिकर अवश्य करते। क्योंकि उस सत्यार्थप्रकाश का कुछ हिस्सा उन्हीं के यहां लिखा गया था। लिखने के लिये एक महाराष्ट्र ब्राह्मण निश्चित किया था जो न ही संस्कृत अच्छी तरह जानता था और गुजराती से तो नितान्त अनभिज्ञ था। अत: राजा जी का पत्र भी इस भूमिका को प्रत्यक्ष जाली सिद्ध करता है। राजा जी इस बात की भी सम्भावना समझते हैं कि स्वामी जी ने उस समय वैसा ही लिखवाया हो और बाद मे उनके विचारों में परिवर्तन हुआ हो। दूसरे अर्थों मे राजा साहब को स्वामी जी के उस विज्ञापन पर भी विश्वास नहीं है जो उन्होंने सं० १९३५ वि० में छपवाया था।

स्वामी जी के एक परम भक्त को स्वामी जी के लिखे पर विश्वास न होने का कारण स्वामी जी महाराज की पालसी थी। वे लिखते कुछ थे और कहते कुछ थे, अमल किसी अन्य बात पर था। यही कारण था कि उनके परम भक्त भी उनकी किसी बात पर विश्वास नहीं करते थे। स्वामी जी अपनी भूल को हमेशा दूसरों पर डाल देते थे। इसी नीति से यहां काम लिया गया है। अर्थात् प्रथम सत्यार्थप्रकाश मे न तो छापने की अशुद्धि है तथा न लिखने लिखाने की भूल है) अपितु असल बात यह है कि स्वामी जी के उस समय विचार ही वैसे थे। सत्यार्थप्रकाश से कुछ दिन पहले ही स्वामी जी ने एक सन्ध्योपासना की पुस्तक लिखी थी, जो कि सवत् १९३१ वि० में छपी थी। उसमे सूर्य को अर्घ देने का स्पष्ट विधान लिखा था। उससे भी स्वामी जी के उस समय के विचारों का पता चलता है कि आप उस समय (जब कि विक्रम संवत १९३१ में सत्यार्थप्रकाश लिखा जा रहा था) आप कट्टर सनातनधर्मी थे। उनका जीवन-चरित्र ही इसकी साक्षी दे रहा है कि उस समय आपके विचारों में विशेष परिवर्तन नहीं था। ❀

यह सत्यार्थप्रकाश अशुद्ध है

बाबू हरविलास जी शारदा, मन्त्री परोपकारिणी सभा ने ता० ३१-७-१९०८ को 'आर्य मुसाफिर' आगरा में एक नोटिस निकाला था, उस में आपने लिखा था कि 'सत्यार्थप्रकाश की अशुद्धियों के विषय में हमारे पास अनेक पत्र आ रहे हैं तथा शास्त्रार्थ आदि में भी आर्य विद्वानों को

❀ नोट-१-स्वामी जी का जीवन चरित्र पृष्ठ ६६-
सूर्य को अर्घ देना सन्ध्योपासना का एक अंग बनाया गया है।

इन अशुद्धियों के कारण नीचा देखना पड़ता है तथा जनता में भ्रम भी फैलता है। अत: सभा ने यह निश्चय किया है कि सत्यार्थप्रकाश की अशुद्धियों को ठीक किया जावे। अत: आर्य विद्वानों से निवेदन है कि उनको, सत्यार्थप्रकाश मे जो अशुद्धियां ज्ञात हों वे हमारे पास लिखकर भेज दें।"

इस पर स्वामी दर्शनानन्द जी ने एक हज़ार अशुद्धियां निकाली थीं। इसी प्रकार अन्य विद्वानो ने भी प्रयत्न किया था। परन्तु सब व्यर्थ हुआ, क्योंकि यह सत्यार्थप्रकाश तो सर्वथा अशुद्ध है, यदि इसको शुद्ध किया जाये तो एक पृथक् ही पुस्तक बनेगी, उसका यह रूप नही रह सकता, यह समझ कर परोपकारिणी सभा ने उस विचार को त्याग दिया अत: भूमिका मे यह लिखना कि यह शुद्ध करके छापा गया है, सर्वथा मिथ्या है। प्रथम सत्यार्थप्रकाश की अपेक्षा इस सत्यार्थ प्रकाश मे हजारों गुनी अधिक अशुद्धिया है। यह भी इस सत्यार्थप्रकाश के जाली होने का प्रबल प्रमाण है।

पं० कालूराम जी शास्त्री

पं० कालूराम जी शास्त्री ने जब प्रथम सत्यार्थप्रकाश दुबारा छपवाया तो आर्यसमाज मे भूचाल सा आगया था। आर्य अखबारों ने बड़ा शोर मचाया। परोपकारिणी सभा ने प कालूराम जी पर दावा करने का निश्चय किया। अत परोपकारिणी सभा के मन्त्री पं० वंशीधर जी ने सभा की तरफ से पं० कालूराम जी को नोटिस दिया कि 'या तो आप माफी माग लें अथवा आप पर दावा किया जायेगा।' उसका उत्तर प० कालूराम जी ने दिया कि 'आप तो क्या दावा करेंगे दावा तो आप पर किया जायेगा। क्योंकि आप लोग अपने थोड़े से स्वार्थ के लिये जाली सत्यार्थप्रकाश बनाकर स्वामी जी के नाम पर छपवाकर जनता को धोका दे रहे है।' पं० कालूराम जी के छपाये हुए सत्यार्थप्रकाश को देखो,

इस पर परोपकारिणी के सभ्यों को कुछ होश आया तथा अपने किये पाप समझ गये और मुकदमे का विचार त्यागकर, एक प्रकार से पं० कालूराम जी से दया की भीख मांग ली। यदि यह सत्यार्थप्रकाश नकली न होता तो परोपकारिणी सभा कभी न घबराती और पं० कालूराम पर दावा अवश्य कर देती।

सत्यार्थप्रकाश कैसी पुस्तक है ?

पेशावर के एक सनातनधर्मी विद्वान् ने सत्यार्थप्रकाश के विरुद्ध एक पुस्तक लिखी थी। उस पर आर्यसमाज की तरफ से दावा किया गया। उसका फैसला ता० ८ दिसम्बर सन् १८८२ को हुआ। उसमें अदालत दर्जा अव्वल ने निम्न फैसला दिया—

"इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दयानन्द की खास धर्मपुस्तक सत्यार्थप्रकाश मे कोकशास्त्र व व्यभिचार की तालीम हैं। मुद्दई खुद इस बात को तस्लीम करता है कि वह असूलों पर जिनमें एक व्याही हुई औरत को अपने असली खाविन्द (पति) के जीते जी किसी दूसरे आदमी के साथ हम-बिस्तरी (यानी साथ सोने की) हिदायत है। यह रश्म बेशक व बिलाशुवाह जिनाकरी (यानी व्यभिचार) है। इस वास्ते यह जिक्र करते हुए कि दयानन्द के मुरीदान (शिष्यमण्डल) मुंदर्जावाला असूलो पर ईमान लाते हुए रस्म जिनाकारी का आगाज कर रहे है। (अर्थात् व्यभिचार का प्रचार कर रहे है) और अगर इन असूलों पर इनको इसी तरह यकीन रहा तो वे इसी जिनाकारी (व्यभिचार) को ज्यादा तरक्की देगे आदि, आदि, आदि..................।"

आर्यसमाज के कर्णधारों को इस फैसले से कुछ लज्जा अनुभव करनी चाहिये थी। परन्तु उन्होने ऐसा न करके इसकी अपील सैशन कोर्ट मे कर दी। वहा से निम्नलिखित फैसला हुआ—

"दयानन्द के असूल इस किस्म के हैं कि वे अहले हनूद व दीगर मजाहब के हस्न व इखलाक के सख्त मजामत करते है। और इस किताब सत्यार्थप्रकाश के चन्द हिस्से खुद भी निहायत फोश हैं।"

यह फैसला "धर्मोदय" के सम्पादक ने अदालत से मंगाकर अपने अखबार वर्ष १ अक २ पृ० ८०-८१ पर अगस्त सन १९२६ में छापा था। यह "मेरठ प्रिंटिंग प्रेस" मेरठ से निकलता था। पं० कन्हैयालाल जी विद्यारत्न इसके सम्पादक थे। *

महात्मा गांधी और सत्यार्थप्रकाश

महात्मा जी लिखते हैं—"मैने आर्यसमाजियों की "बाइबिल"

---

* नोट—वेद विशारद प० मंगलसेन जी जैन, अम्बाला छावनी वालो ने हमको यह फैसला भेजा है। हम उनके कृतज्ञ हैं।

सत्यार्थप्रकाश को पढ़ा है। जब मैं यरवदा जेल मे आराम कर रहा था तो मित्रों ने तीन प्रतियां मेरे पास भेजी थीं, मैंने इतने बड़े सुधारक की रचना इससे अधिक निराशाजनक पुस्तक कोई नहीं देखी। स्वामी दयानन्द जी ने सत्य और केवल सचाई पर खड़े होने का दावा किया है, किंतु उन्होंने जैनधर्म, इस्लाम, ईसाई और स्वयं हिन्दूधर्म को भी गलत तरीके पर जाहिर किया है। जिस मनुष्य को इन धर्मों का साधारण भी ज्ञान होगा वह भी इन गलतियों को समझ सकता है कि जिसमें इस बड़े सुधारक को डाला गया है। इन्होंने विश्व मे विशाल हृदय स्वतन्त्र धर्म (हिन्दुधर्म) को सकुचित बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि वे मूर्ति-पूजा के विरोधी थे, परन्तु वे परोक्ष रूप मे मूर्तिपूजा का नाद बजा रहे हैं तथा सूक्ष्म मूर्तिपूजा के प्रचार में सफल हुए हैं। क्योंकि इन्होंने वेदों के शब्दों की मूर्ति बना ली है। मेरे तुच्छ विचार में आर्यसमाज "सत्यार्थप्रकाश" की तालीम की खूबी के कारण उन्नति नहीं कर रहा है। अपितु अपने नेता के शुद्ध चरित्र के कारण से कर रहा है। आप जहां कहीं भी आर्यसमाजियो को पायेगे वहीं जिन्दगी और सरगर्मी भी पायेंगे। किन्तु संकुचित विचारो तथा लड़ने झगड़ने के स्वभाव से विवश होकर वे या तो अन्य मत वालो से लड़ते रहते है। यदि ऐसा अवसर न मिले तो आपस मे ही लड़ते रहते हैं। श्रद्धानन्द जी को भी इस स्प्रिट का हिस्सा मिला है। आर्यसमाजो उपदेशक को इतना आनन्द कभी नहीं आता जितना कि अन्य मत की बुराई में आता है।"

दैनिक "प्रताप" लाहौर ४ जून सन १९२४..................

प्रताप अखबार आर्य पुरुषों का है, अतः इसमे सम्मति का वह भाग छोड़ दिया है जिसमे स्त्रियों के बेचने का जिकर है। यह है विश्व महापुरुष की सम्मति। एक एक आर्यसमाजी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस सम्मति पर आर्यसमाज में महान कोलाहल हुआ, महात्मा जी के विरुद्ध सभायें की गई तथा उनमे अनेक प्रकार के अपशब्द महात्मा जी के प्रति कहे गये। परन्तु सत्य कैसे छिप सकता है। आर्यपुरुषों ने ही महात्मा जी का समर्थन किया और अन्त में सत्य की विजय हुई।

सत्यार्थप्रकाश और गालियां

मैं बताऊं आपको अच्छों की क्या पहचान है।
जो हैं खुद अच्छे वह औरों को नहीं कहते बुरा॥

(१) आंख के अन्धे, गांठ के पूरे, उन दुर्बुद्धि, पापी, स्वार्थी।
(२) क्यों भूंसता है।
(३) अन्धे, धूर्त।
(४) उन निर्लज्जों को जरा भी लज्जा नहीं आई।
(५) वाहरे झूठे वेदान्तियो।
(६) गडरिये के समान झूठे गुरू।
(७) जिसकी हृदय की आंखें फूट गई हों।
(८) भठियारे के टट्टू कुम्हार के गधे।
(९) ऐसे गुरू और चेलों के मुख पर राख पड़े।
(१०) तुम भाट और खुशामदी चारणों से भी बढ़कर गप्पी हो।
(११) भांड-धूर्त-निशाचरवत् महीधर आदि टीकाकार हुये हैं।

(१२) भागवत के बनाने वाले लाल बुझक्कड़, क्या कहना है तुझको ऐसी ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शर्म न आई निपट अन्धा ही बन गया।............." 'इन भागवतादि के बनानेहारे जन्मते ही क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये वा जन्मते समय मर क्यों न गये।' इन गालियों की सीमा यहीं तक नहीं है। अपितु आचार्य मुनि वाहन को भगी कुलोत्पन्न तथा यावनाचार्य को यवनकुलोत्पन्न और शठकोप मुनि को कंजर बताकर अपनी सभ्यता का परिचय दिया है। तथा जैन तीर्थंकरों व आचार्य आदि को रण्डीबाज, धूर्त, धोकेबाज, मूर्ख आदि लिखकर अपनी आत्मा को शान्त किया है। यही नहीं अपितु इस सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने जितनी गालियां बचपन में अपने माता पिता से तथा अपने गुरुओं से और अपनी धर्मपुस्तकों से सीखी थीं, उन सबका बारहवें समुल्लास में खुले दिल से प्रयोग किया है। उन सब पर यथा स्थान प्रकाश डाला जायगा।

मदर इण्डिया और सत्यार्थप्रकाश

कुछ दिन हुए कि 'मिस मेयो' नामकी एक लेडी अमेरिका से भारत में भेजी गई या स्वयं आई, उसने चार मास तक भारत में इधर-उधर घूमकर एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था "मदर इण्डिया" उसमें भारत को बदनाम करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की कल्पित कहानियां लिखकर अपने कार्य की सिद्धि करने का प्रयत्न किया गया है। ठीक इसी प्रकार जैनधर्म को बदनाम करने की गरज से ही सत्यार्थप्रकाश का बारहवां समुल्लास लिखा गया है। लेखक ने उसमें जैनधर्म के चित्र खींचने का

प्रयत्न किया, परन्तु दुर्भाग्यवश अकस्मात या आवेश मे वहां अपना अन्तःकरण चित्र चित्रित किया गया है। इसमें अनेक बातें ऐसी हैं जिनसे प्रत्येक जैन आज तक अनभिज्ञ है। उसके पढ़ने से प्रत्येक विद्वान जान सकता है कि लेखक के हृदय में जैनधर्म के प्रति द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो रही थी उसी को जैनधर्म की गाथाओं के नाम से प्रगट किया गया है। उन गाथाओं मे विकृत भावों का अभाव देखकर बलात्कार अपने भावों को कहलाने का प्रयत्न किया है। जब उसको इससे भी शांति नहीं मिली तो तब वह समीक्षक के नाम से गालिया देने लगा, जिससे उसका असली स्वरूप प्रगट हो गया है। 'मिस मेयो' ने चार मासमे ४० करोड़ भारतीयों के रहन-सहन, धर्म-कर्म व स्वभाव आदि को जाना था, परन्तु इन महानुभाव ने ४ दिन मे ही जैनधर्म के सम्पूर्ण शास्त्रों को समझ लिया था तथा जैनधर्म के मर्म को समझ लिया था। जिस प्रकार "मिस मेयो" बिना किसी से धन लिये निःस्वार्थ केवल परोपकार की भावना से भारतवर्ष को बदनाम करने के लिये भारतवर्ष मे आई थी, तथा उपरोक्त भावों से प्रेरित होकर ही उसने 'मदर इण्डिया" पुस्तक लिखने का कष्ट किया था, ठीक इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने परोपकार की तथा सत्यार्थप्रकाश की तीव्र वेदना से विह्वल होकर जैनधर्म के विषय मे विष वमन किया है। अभिप्राय यह है कि सत्यार्थप्रकाश का लेखक "मिस मेयो" का कोई बड़ा भाई ही था। महात्मा गाधी के शब्दों में ऐसे व्यक्ति की पोजीशन एक सफाई के दारोगा की पोजीशन से अधिक नहीं है। किसी ने ठीक कहा है—

बात क्या चाहिये जब मुफ्त की हुज्जत ठहरी।
इस गुनाह पर मुझे मारा कि गुनाहगार न था॥

आर्य-समाज

[३]

वर्तमान आर्यसमाज एक भयानक सम्प्रदाय बन गया है। आज उसमें गम्भीरता, उदारता व सहिष्णुता का अभावसा दृष्टिगोचर होता है।

लड़ने झगड़ने की स्वाभाविक मनोवृत्ति ने उसको सभ्य पुरुषों की नजर से गिरा दिया है। हठ, दुराग्रह, पक्षपात ने उसको जर्जरित कर दिया है। वैज्ञानिक उन्नति और विद्या के विकास ने उसकी सैद्धान्तिक मौत कर दी है खिसियायी बिल्ली खम्भा नोचेके अनुसार उसके पास आपस में लड़ने के सिवा और रह ही क्या गया है। आज उसी के महापुरुष वा उसके सच्चे सेवक तथा उसके विद्वान ही उससे घृणा करते हैं, इससे अधिक किसी समाज की दुर्दशा और क्या होगी। आज उसके जीवन का आधार एक मात्र हिन्दु–मुस्लिम फसाद रह गया है। एक दिन अवश्य ही यह आधार चकनाचूर होगा, उस समय इसकी मौत भी अवश्यंभावी है। इस सत्य को चाहे अब उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाय परन्तु इससे इसकी सत्यता पर आंच नहीं आ सकती। श्रद्धा, भक्ति, आदि सद्गुणों के अभाव से इसमें नीरसता ही नहीं आ गई है अपितु धार्मिक जीवन का अभाव सा हो गया है। अनेक प्रकार की कुरीतियों ने तथा रूढ़िवाद ने आर्यसमाज में घर कर लिया है। यदि आप इतिहास को पढोगे तो आप समाजों की मौत के उपरोक्त ही कारण पायेंगे। मैं इसके लिये दो दुःखद घटनाओं का उल्लेख कर देना उचित समझता हूं।

(१) श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज आर्यसमाज के उच्च कोटि के सन्यासी एव सच्चे सेवक और सुयोग्य विद्वान थे। आपने एक ग्रन्थ "सन्यास दर्शन" नाम का लिखा है, उसमे यह लिखा गया है कि कि चारों वेद एक अग्नि ऋषि पर ही प्रगट हुए, इसमें आपने "अग्निर्जागार तमृच. कामयन्त" आदि वेद मन्त्र प्रमाण भी दिये हैं। चूंकि यह मान्यता स्वामी जी की मान्यता से विरुद्ध है अत: समाज मे शोर मच गया। परिणामतः मेरठ मे एक जट्ट देवता से उनका शास्त्रार्थ कराया गया। उस समय महाशय लोगो ने स्वामीजीके प्रति जिन कटु वाक्यों का व्यवहार किया उनके स्मरणमात्र से हृदय मे एक टीस सी होती है। उस के उत्तर मे श्रीस्वामी जी ने जो कहा वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। आपके निम्नलिखित शब्द थे—

"हम तो फकीर हैं, इस लिये आप जैसा कहोगे वैसा मान लेंगे, परन्तु आप यह याद रक्खें कि यदि आप लोगों ने अपनी मनोवृत्तियो में परिवर्तन नहीं किया तो एक दिन वह होगा, जब सभी विद्वान आर्य-समाज को घृणा की दृष्टि से देखेंगे।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी ने आर्यसमाजियों की अवस्था देखकर "चांडाल-चौकड़ी" और "कलियुगाचार्य" दो पुस्तकें बनाई थीं। उनमें आर्यसमाज के विषय में जो भविष्य वाणियां की थीं वे सब प्रत्यक्ष हैं। आर्यसमाजी सन्यासियों के ये दो ग्रन्थ आर्यसमाज के लिये शाप हैं। यह शाप अब फलने लगे हैं यदि आर्यसमाज की आंखें हों तो वह देखे।

दूसरी घटना है शारचवर (सिन्ध) की। वहां की समाज का उत्सव था, पं० धर्मभिक्षु जी भी वहां आये थे तथा श्री स्वामी सर्वदानन्द जी भी थे। मैं उन दिनों वहीं रहता था। प० धर्मभिक्षु जी ने अपनी आदत के अनुसार मुसलमानों का खण्डन किया। इसका परिणाम यह निकला कि शहर की शांति खतरे में पड़ गई। श्री स्वामी जी ने धर्मभिक्षु तथा अन्य उपदेशकों को निजी तौर पर समझाया कि इस प्रान्त मे जहां हिन्दू आटे में नमक के बराबर हैं, वहां मुसलमानों का इस प्रकार खण्डन करना हिन्दुओं के लिये अत्यन्त हानिकर है। हमलोग कह कर चले जांयगे बादमें इनपर जो मुसीबत आयगी वह इन्हें ही भोगनी पड़ेगी। यहां के ग्रामीण मुसलमानों मे अभी तक इस्लाम का विशेष पक्षपात नहीं है, हम तो कुछ न कर सकेंगे परन्तु मुसलमानों का संगठन हो जायगा। इसपर धर्मभिक्षु जी का पारा इतना चढ़ा कि उनको कुछ होश ही नहीं रहा। उस बेहोशी मे उन्होंने जो कुछ कहा उसको लिखना उचित नहीं है। आर्यसमाजियों ने भी स्वामी जी की शिक्षा पर कुछ ध्यान नहीं दिया। उसका परिणाम जो कुछ वहां की हिन्दु जनता को भोगना पड़ा वह किसी से छुपा हुआ नहीं है।

डाक्टर सत्यकेतु और आर्यसमाज

[आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक महाशय सत्यकेतु जी विद्यालंकार इतिहासोपाध्याय के महात्मा गांधी के आर्यसमाज पर किये गये आक्षेपों पर विचार और श्री स्वामी दयानन्द जी रचित सत्यार्थप्रकाश पर सम्मति]

महात्मा गांधी ने 'यंगइण्डिया' मे आर्यसमाज वेद, सत्यार्थप्रकाश महर्षि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द जी के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे अनेक आर्यसमाजियों को दुःख हुआ है। बहुत से आर्य समाजियों ने इसके विरुद्ध प्रस्ताव भी पास किये हैं। आर्य भाइयों का महात्माजी के लेखपर इस प्रकार का भाव रखना सर्वथा स्वाभाविक है।

परन्तु महात्मा जी के विचारों के विरुद्ध प्रस्ताव पास करते हुए तथा उनके विरुद्ध लेख लिखते हुए हमें यह भी विचार करना चाहिये कि क्या महात्मा जी के विचारों में कुछ भी सत्य नहीं। यदि कुछ भी सत्य उनमें है, तो उसका ग्रहण करना क्या आर्यसमाज का कर्तव्य नहीं। महात्मा जी के आर्यसमाज, वेदादि विषयक विचारों को हम पांच भागों मे बांट सकते है—

१- स्वामी जी ने जैन, इस्लाम, ईसाई और हिन्दू सम्प्रदायों के स्वरूप को ठीक प्रकार से प्रकट नहीं किया, वे जिस प्रकार के है उसी प्रकार उन्हें प्रदर्शित नही किया यद्यपि यह कार्य स्वामी जी ने जान बूझ कर नही किया !
२- स्वामी जी ने हिन्दू धर्म को संकीर्ण कर दिया है।
३- स्वामी जी ने वेदों मे सब सत्य विद्याओं और आधुनिक विज्ञानों का मूल माना है और उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन करने पर भी वेद के अक्षरों की पूजा चला दी है।
४- आर्यसमाजी लोग प्राय: झगड़ालू हुआ करते हैं और महात्मा जी ने यह सुना भी है कि कही २ उन्होंने स्त्रियों को भगा ले जाकर भी अपने धर्म का प्रचार किया है।
५- जिस प्रकार की शुद्धि आजकल प्रचलित है वह प्राचीन हिन्दुधर्म में न थी। आर्यसमाजियों ने सम्भवत: यह ईसाई धर्म से ली है।

इन पांचों बातों पर क्रमशः हम अपने विचार सक्षेप से प्रकट करना चाहते है।

१- स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्ध में इन मतों की समीक्षा की है। उत्तरार्ध की अनुभूमिका में स्वामी जी लिखते हैं—

जो जो इसमे सत्यमत का मण्डन और असत्य का खण्डन किया है, वह सबको जानना ही प्रयोजन समझा गया है।—इत्यादि।

परन्तु स्वामी जी ने इन मतों की समीक्षा करते हुए न तो इनके सत्य सिद्धान्तों का उल्लेख ही किया है और न मण्डन ही। स्वामी जी ने केवल इनके दोषों का ही प्रदर्शन किया है यदि हम किसी व्यक्ति के केवल दोषों का ही अवलोकन करें, तो हम उसे ठीक प्रकार समझ नहीं सकते। इसी प्रकार सत्यार्थप्रकाश मे अन्य मतों के केवल दोष देखने

के कारण उन मतों का असली रूप प्रकट नहीं होता। यदि केवल इतना ही होता तब भी कोई हानि न थी। परन्तु स्वामी जी ने जैन, ईसाई आदि धर्मों के दोषों की मीमांसा भी उचित रीति से नहीं की। इस मीमांसा में भगवान ईसा, जिन महावीर आदि धर्म संस्थापकों के भावों और उद्देश्यों को स्थान-२ पर बुरा कहा है। कहीं उनको टकापंथी बताया है तो कहीं औरों बहका कर अपना मतलब सिद्ध करने वाला। इस लेख मे यह सब विस्तार से नहीं लिखा जा सकता। स्वामी जी ने किस प्रकार अन्य धर्मों के साथ अन्याय किया है, यह पूर्णरूप से नहीं दिखाया जा सकता। हम पाठकों के सन्मुख केवल दो निर्देश रखना चाहते हैं। ईसाई मत की समीक्षा मे मत्तीरचित इञ्जील की आलोचना पढ़ लीजिये, आपको निराशा होगी। बाइबल के जिन भागों को पढकर हमें यह प्रतीत होने लगता है कि हम उपनिषदों का तर्जुमा पढ़ रहे हैं उनकी स्वामी जी ने बहुत हंसी उड़ाई है।

एकादश समुल्लास में जिज्ञासु के साथ अन्य हिन्दु सम्प्रदायों की जो बात स्वामी जी ने लिखी है वह सचमुच निराशाजनक है, क्या सचमुच ही हिन्दु धर्म के सब सम्प्रदाय इतने बुरे हैं। कभी नहीं।

इसी प्रकार की अन्य बहुत सी बातें हैं जिनके लिखने का यहां स्थान नहीं है। यह ठीक है कि स्वामी जी ने किसी बुरे प्रयोजन से अन्य सम्प्रदायों की ऐसी समीक्षा नही की। परन्तु उनसे यह भूल हो गई है जिसे हमे अवश्य स्वीकार करना चाहिये। मुझे विश्वास है कि यदि आज स्वामीजी जीवित होते और श्रीएण्ड्रन मत्ती रचित इञ्जीलका असली अभिप्राय उनके सन्मुख रखते तो स्वामी जी अपनी आलोचना को सहर्ष वापिस ले लेते। परन्तु उनके अनुयायी आज इसके लिये तैयार नहीं होते। यदि अन्य धर्म वाले अपने धर्मों की व्याख्या सार्वभौम सचाइयों के अनुकूल करते हैं, तो हमारी इसमें क्या हानि है। आर्यसमाज को तो इसमें प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिये। महात्मा जी ने यह नहीं कहा है कि स्वामी जी ने इन धर्मों को जान बूझकर अशुद्ध रूप में प्रकट किया है। उन्होंने तो यही कहा है कि उनसे ये अनजान में इस प्रकार प्रकट हुए हैं। क्या इस भाव को हमे सहर्ष स्वीकार नहीं करना चाहिये ?

२-स्वामी जी ने हिन्दुधर्म को संकीर्ण कर दिया है। यह बात यद्यपि आर्यसमाजियों को स्वाभाविक रूप से बुरी लगेगी पर इसमे भी सत्य को

पर्याप्त अंश विद्यमान है। हिन्दुधर्म की एक विशेषता है, जो अन्य धर्मों में नहीं है। हिन्दुधर्म किसी अन्यधर्म को नीची निगाह से नहीं देखता वह उनको आदर की दृष्टि से देखता है, सब में सचाई का अनुभव करता है। हिन्दूधर्म का प्रयत्न यही रहता है कि सब विरोधों का समन्वय करे। सब को भेदभाव रखते हुए भी अपने में स्थान दे। यही कारण है कि हिन्दुधर्म में नास्तिक और आस्तिक, भूतवादी और ब्रह्म वादी, मूर्तिपूजक और मूर्ति-भञ्जक सब सम्मान रूप से रह सकते हैं। पर आर्यसमाज ने हिन्दुधर्म की इस विशेषता को नष्ट किया है। हिन्दु धर्म का उपरिवर्णित स्वरूप निस्सन्देह उदार है।

और आर्यसमाज इसे संकीर्ण कर रहा है। यह बात हमें स्वीकार करनी होगी। परन्तु आर्यसमाज साथ साथ यह भी समझ सकता है और समझता है कि यह संकीर्णता ठीक उपयोगी है। हिन्दूधर्म में इस अनिवार्य संकीर्णता के न होने से ही शिथिलता है। और इस शिथिलता को दूर करने के लिये कुछ न कुछ संकीर्णता का लाना परमावश्यक है। पर जो सज्जन हिन्दूधर्म के उदार स्वरूप को उपयोगी समझते हैं, क्या वे आर्यसमाज के विषय में ईमानदारी के साथ यह नहीं कह सकते कि आर्यसमाज हिन्दूधर्म को संकीर्ण बना रहा है। मेरी स्थिति तो इस विषय मे यह है कि निस्संदेह आर्यसमाज संकीर्णता ला रहा है, इसे मैं स्वीकार करता हूं, पर यह कोई बुरा काम नहीं है।

एक और तरह की संकीर्णता भी हम मे है जो बहुत हानिकारक है। आर्यसमाज सब धर्मों को नीची निगाह से देखता है। वेद के सिवाय किसी पुस्तक को प्रामाणिक नहीं समझता। मध्यकालीन अनार्य व्यक्तियों की लिखी पुस्तक को हेय समझता है। सिद्धान्त कौमुदी, तुलसीकृत रामायण आदि उत्तम पुस्तकों से केवल इसलिये घृणा करता है कि स्वामी जी ने इनको अपाठ्य लिख दिया है। आर्यसमाज में सहिष्णुता की कमी है और अपने मे किसी दोष को देखने की आदत नहीं है। यह संकीर्णता है, जिसका दोष निश्चित रूप से आर्यसमाज पर दिया जा सकता है। क्या मेरे आर्य भाई इन बातों पर विचार करेंगे।

स्वामी जी वेदों में सब सत्य विद्याओं और आधुनिक विज्ञानों का मूल देखते है। आर्यसमाज भी यही मानता है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति को इससे मतभेद हो। सब को अपना मत प्रकट करने का अधि-

कार है। क्या महात्मा गांधी को यह अधिकार नहीं ? उनका इससे मतभेद है वे इसे प्रकट कर सकते है। हमें इससे दुःखी होने की क्या आवश्यकता है। मेरी सम्मति मे तो आर्यसमाज को यह चाहिये कि वह अपने विद्वानों का डेपुटेशन महात्मा जी के पास भेजे और उनके सन्मुख अपनी युक्तियों को पेश करे। मुझे विश्वास है कि गांधी जी सत्य को ग्रहण करने के लिये अवश्य तत्पर रहेगे। यह बात भी बिलकुल सत्य है कि आर्यसमाज ने मूर्तिपूजा को हटाकर वेदों के अक्षरो का पूजा जारी की है। इन प्रांतो मे सम्भवतः ६५ प्रतिशतक आर्यसमाजी अशिक्षित हैं, उनमें भी कितने संस्कृत व वेदों को समझते हैं ? क्या बिना समझे वेदों को सत्य विद्याओं का भण्डार मानना मूर्तिपूजा नहीं है ? मूर्ति केवल पत्थर को ही नहीं कहते। हमारे आर्य भाई सन्ध्या करते समय वेद मन्त्रो का पाठ करते हैं। कितने आर्य भाई हैं जो इन मन्त्रों का अर्थ समझते हैं ? क्या मन्त्रों का अर्थ समझे बिना सन्ध्या मूर्तिपूजा का भिन्न रूप नही है। निस्सन्देह आधुनिक आर्यसमाज वेदो के अक्षरों को पूज रहा है। यद्यपि उनके भावों को समझने की शक्ति बहुत कम मे है।

आर्यसमाजी लोग प्रायः झगड़ालू होते हैं। जब उन्हें दूसरों के साथ लड़ने का अवसर नहीं मिलता तब वे आपस मे ही लड़ना शुरू कर देते हैं। यह एक कड़वी सचाई है जिसे इच्छा न होते हुए भी हमें स्वीकार करना पड़ता है। क्या आर्यसमाज मे अनेक दलों का होना इसका प्रमाण नहीं है ? हममें अनेक दल हैं, हम आपस मे लड़ते है। एक महात्मा हमें हमारा दोष बताता है, हम उसके भी विरुद्ध हो जाते हैं। उसके सब गुणों को भुलाकर हम उसकी निन्दा करने लगते है। आर्य समाज के एक प्रसिद्ध नेता ने अभी गुरुकुल कांगड़ी की एक सभा में धार्मिक बातो मे महात्मा जी की उपमा एक 'अपढ़ गवार' से दी थी। यह हमारी असहिष्णुता और झगड़ालू होने का स्पष्ट प्रमाण है। क्या हम अपनी इस कमी को स्वीकार करने का साहस नहीं कर सकते ?

आर्यसमाज भी अपने धर्म प्रचारके लिये स्त्रियोंको उड़ाता है, यह बात महात्मा जी ने सुनी है। यदि महात्मा जी ने इसे केवल सुना ही होता तो मुझे निश्चय है, वे इसे समाचार पत्र में कभी न लिखते, उन्हें जरूर किसी विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ होगा। क्या सचमुच यह

बुराई भी हम आर्यसमाजियों मे आ गई है। यदि महात्मा जी ने ठीक सुना है तो हमे डूबकर मरना चाहिये। पर हमें इसकी सत्यता में कुछ सन्देह है। हो सकता है कि महात्मा जी को ठीक सूचना न मिली हो। मैं महात्मा जी से विनीत भाव से प्रार्थना करता हू कि इस बात को अधिक स्पष्ट रीति से और विस्तृत लिखने की कृपा करें ताकि इसकी सत्यता का अनुसन्धान किया जा सके और यदि यह सत्य हो तो इसका प्रत्युपाय भी किया जा सके।

५–प्राचीन स्मृतियों मे कही कहीं शुद्धि का वर्णन आता है। पर वह शुद्धि इस प्रकार की नहीं है, जैसी आर्यसमाज ने प्रारम्भ की है। क्या जिन व्यक्तियों को हम अपने धर्म में सम्मिलित करते है, उन्हें सचमुच हम आर्य बना लेते है। उनके वैयक्तिक आचार मे वास्तविक रूप से क्या परिवर्तन आ जाता है। यदि कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता तो हमने शुद्धि क्या की? निस्सन्देह आजकल की शुद्धि हिन्दुधर्म के प्राचीन रूप के प्रतिकूल है। आर्यसमाज शुद्धि के वर्तमान स्वरूप को उपयोगी और समयानुकूल समझ सकता है। उसे अपने विश्वासों के अनुसार कार्य करने का पूरा हक है। महात्मा जी आर्यसमाज को अपनी आत्मा के अनुसार कार्य करने से मना नहीं करते। वे केवल अपनी असहमति प्रगट करना चाहते है और शुद्धि तथा तबलीग दोनों को हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य का कारण समझते हुए उन्हें हानिकारक समझते है। आर्यसमाज को इसमे अप्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है।

इस लेख का लेखक भी एक आर्यसमाजी है, ऋषि दयानन्द और वेद का कट्टर अनुयायी है। इस लेख का लेखक भी आर्य भाइयों से प्रार्थना करता है कि वर्तमान आर्यसमाज मे अनेक त्रुटियां है। इन पर हमे विचार करना चाहिये महात्मा जी ने जो कुछ लिखा है वह सद्भाव और ईमानदारी से लिखा है। हो सकता है हमारा उससे मतभेद हो, हमे उससे नाराज न होना चाहिये। क्या हम आर्यसमाजी विरोध-प्रस्ताव भेजने के स्थान पर अपने विद्वानों का एक डेपुटेशन नहीं भेज सकते। यदि हम अपनी युक्तियों से महात्मा जी को आर्यसमाजी बना सकें तो हमारा बड़ा भारी गौरव है। अन्यथा युक्ति-रहित विरोध करने मे आर्यसमाज की शान घटती है बढ़ती नही।

(२० जून सन १९२४ ई० के 'आज' से उद्धृत)

ईश्वरानन्द और आर्यसमाज

श्री स्वामी जी महाराज ने पांच चेले बनाये थे। उनके नाम थे-आत्मानन्द, सहजानन्द, ईश्वरानन्द, रामानन्द, गिरानन्द। इनमें से कई अल्पायु के नाबालिग थे। जब इनको चेला बनाया गया तो इनके कानों में गुप्त गुरुमन्त्र भी फूंका गया था तथा इनको वे सब सांप्रदायिक चिह्न भी दिये गये थे जिनको सनातनी साधु रखते हैं। स्वामी जी उनका खण्डन भी किया करते थे।

ये सब शिष्य स्वामी जी के तथा आर्यसमाज के घोर शत्रु बन गये थे। ईश्वरानन्द तो इतना भयानक हो गया था कि आर्यसमाजी उसके ठोंकने की ताक में था, क्योंकि ईश्वरानन्द जहां जाता था वहीं आर्य-समाज तथा स्वामी जी का अत्यन्त कटु शब्दों द्वारा खण्डन करता था। अन्त में सुना गया है कि ईश्वरानन्द बीमार थे, मुरादाबाद ठहरे हुए थे, दवा आदि से कुछ लाभ हुआ था परन्तु अत्यन्त दुर्बल थे। उसी समय ३-४ ग्रामीण आदमियों ने वहां आकर कहा कि अमुक ग्राम में सनातन-धर्म का उत्सव है अतः आपको वहां के प्रतिष्ठित सनातनधर्मियों ने बुलाया है। अन्य भी अनेक बातें बनाकर ईश्वरानन्द को वे ले गये। मार्ग में जाकर वे तो नौ दो ग्यारह हो गये और अन्य कुछ व्यक्ति जंगल में से निकल आये, उन्होंने ईश्वरानन्द को खूब मारा, उससे वे ७-८ दिन तक असह्य वेदना सहकर स्वर्ग पधार गये।

उस समय मुरादाबाद की ही नहीं अपितु भारत की अधिक जनता का यह विश्वास था कि इसमें कुछ आर्यसमाजियों का हाथ है।

(ब्रा० सर्वस्व, वर्ष ५, अंक १-२)

स्वामी दयानन्द और वेद

जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक् संहिता आदि चार पुस्तकें हैं जिनसे मनुष्य को सत्यासत्य का ज्ञान होता है। उनको वेद कहते हैं। (आर्योद्देश्य रत्नमाला)

तथा मन्त्र भाग की चार संहिता जिनका नाम वेद है वे सब स्वतः प्रमाण हैं।

—ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका

आगे चलकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है ११२७ वेदों की शाखायें वेदों का व्याख्यान होने पर भी वेदानुकूल होने से ही प्रमाण होने योग्य हैं। यही बात स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश मे लिखी है। तथा सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास मे यों लिखा है—

प्रश्न—शाखा क्या कहाती है ?

उत्तर—व्याख्यान को शाखा कहते हैं।

प्रश्न—ससार मे विद्वान वेद के अवयवभूत विभागो को शाखा मानते हैं ?

उत्तर—तनिक सा विचार करो तो ठीक है। क्योंकि जितनी शाखायें है वे आश्वलायन आदि ऋषियो के नाम से प्रसिद्ध है और मंत्रसहित परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। जैसा चारों वेदों को परमेश्वर-कृत मानते हैं वैसे आश्वलायनी आदि शाखाओं को उस ऋषिकृत मानते है और सब शाखाओं मे मन्त्रो की प्रतीक धर कर व्याख्या करते है। वेद संहिताओं मे किसी की प्रतीक नहीं धरी। इस लिये परमेश्वर कृत चारों वेद मूल वृक्ष तथा सब शाखायें ऋषि मुनिकृत है परमेश्वरकृत नहीं।

उपरोक्त सब लेखों का सार यह है कि ४ वेद मूल है जो कि ईश्वरकृत है और उनकी ११२७ शाखायें है वह व्याख्यान होने से परत: प्रमाण है। वेद की पहचान निम्न लिखित है—

१—सत्य विद्या से युक्त हो। २-मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान कराने वाला हो। ३-जो परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हो। ४-जिनमें प्रतीक न रखी हो। ५-जो शाखा न हो अपितु वृक्षरूप मूल हो। ६-जिन मे मन्त्र हो। ७-जिनका नाम ऋग्वेद संहिता यजुर्वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता सामवेद संहिता हो।

उपरोक्त लेख मे इतनी कमी रह गई है कि इसमे यह नहीं बतलाया कि वेद कहां के छपे हुए हो तथा किसने छपवाये हो। यदि इतना और लिख दिया जाता तो विद्वानो मे विवाद के लिये कोई स्थान न रह जाता। आशा है आगे के सस्करणो मे इस त्रुटि को पूर्ण किया जावेगा। अस्तु, अब तो विचारणीय विषय यह है कि परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध प्रतीकों से शून्य वे वेद कहा हैं ? यदि यह कहा जावे कि जिन पर स्वामी जी महाराज ने भाष्य किया है वे मूल वेद है। तो यह प्रश्न उत्पन्न

होता है कि स्वामी जी महाराज ने पौने दो पुस्तकों पर भाष्य किया है। पुन: चार वेद न रहे दो ही रह गये। तथा स्वामी जी ने जिन पर भाष्य किया है वे भी शाखा नाम से प्रसिद्ध है। यथा—शाकल शाखा और माध्यन्दिनी शाखा। बस, जब ये पुस्तकें शाखा तथा ऋषियो के नाम से प्रसिद्ध है तो मूल वेद न रहे, अपितु वेद व्याख्यान ठहरे। क्योंकि इनमे प्रतीकें रखकर व्याख्यान किया है।

(देखो यजुर्वेद अध्याय ३३ मन्त्र २१)

इसके भाष्य मे स्वामी जी ही टिप्पणी लिखते हैं कि (तं प्रत्नथा, अय वेन:) यह दो प्रतीकें किसी कर्मकांड विशेष बोलने के लिये रक्खी गई है। वास्तव मे इन पुस्तको मे सैंकड़ो प्रतीके है, इस कारण यह वेद नहीं हैं।

भ्रमोच्छेदन मे स्वामी जी लिखते है कि मैं उपनिषदों में एक ईशा वाक्य को छोडकर अन्य उपनिषदो को वेद नही मानता किन्तु अन्य सब उपनिषद ब्राह्मणग्रन्थो मे है, वे ईश्वरोक्त नही। यहां स्वामीजी ने ईश उपनिषद को भी ईश्वरोक्त वेद माना है। परन्तु ईश उपनिषद काण्व संहिता का ४०वा अध्याय है। स्वामी जी कृत वेदभाष्य वाले वेद का नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि स्वामी जी के वेद भाष्य मे हिरण्य-मयेन पात्रेण (यजुर्वेद ४०-१७) यह अन्तिम मन्त्र है जो कि काण्व संहिता के ४०वें अध्याय का १८वा अन्तिम मन्त्र है। बस, इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वामी जी महाराज काण्व संहिता को भी शाखा न मान कर मूल वेद ही मानते थे।

इसी लिये श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी ने (जो वर्तमान समय के सब से बड़े विद्वान हुए है) लिखा है कि—"आश्चर्य ! कौन वह प्रसिद्ध संहिता "शाखा" इस नाम से न कहीं जाने वाली उस महात्मा ने स्वीकार की है, जिसको मूल वेद मानकर "शाखा" इस नाम से प्रसिद्ध अन्य सब संहिताओं को उसका व्याख्यान ग्रन्थ माना जाये, उस मूल वेद संहिता का पता हमको तो आज तक नहीं है अथवा सम्भव है। शाखा के अर्थ से अनभिज्ञ किसी शिष्य ने यह पाठ मिला दिया हो।"

(ऐतरेयालोचन शाखा निर्णय)

उपरोक्त लेख से स्पष्ट हो गया है कि मूल वेद तो लुप्त हो चुके हैं

अब तो शाखायें हैं जिनको आर्यसमाज मानता है। अब विचारणीय विषय यह है कि आर्यसमाज व्याख्यान का व्याख्यान करने लगा है अथवा वेदों का ? यदि वेदों का, तब तो आर्यसमाज को भाष्य करने से पूर्व असली वेदों की खोज करनी चाहिये। अन्यथा "खोदा पहाड़ निकली चुहिया, वह भी मरी हुई" वाली कहावत को चरितार्थ करना है।

आगे चलकर श्री स्वामी जी महाराज ने एक बात और बड़ी ही सुन्दर लिखी है। यथा—

"जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द, अक्षर, अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं उसी प्रकार पूर्व कल्पों में थे और आगे भी होंगे। क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एक ही रस बनी रहती है। उसके एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेकर चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की है इनमें शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है। उसकी वृद्धि, क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती।"

अब हम उन पुस्तकों की परीक्षा इस कसौटी पर करते हैं जिनको आर्यसमाज 'वेद' कहता है। जिससे पाठक नकली तथा असली वेदों का पता लगा सकें।

ऋग्वेद के कितने मन्त्र हैं इस विषय में बड़ा विवाद है। यथा शौनकाचार्य ने अपनी अनुक्रमणिका में यह श्लोक दिया है—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पंचशतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं सम्प्रकीर्तितम् ॥ ३७ ॥

अर्थात्—ऋग्वेद में १०५८० मन्त्र हैं यह पूर्ण संख्या कही गई है। इसी पुस्तक में छन्दों के हिसाब से मन्त्र संख्या दश हजार चार सौ दो १०४०२ लिखी हैं और जिस प्रकार छन्दों का हिसाब यहां दिया है उस को देखें तो १०१४२ मंत्र संख्या होती है। सर्व वेद-भाष्यकार सायण आचार्य ने १०००० दश हजार से कुछ अधिक संख्या लिखी है। जिसका अभिप्राय दश हजार एक सौ तक हो सकता है। तथा ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ में श्री स्वामी दयानन्द जी ने १०५८९ मंत्र बतलाए हैं। तथा पं शिवशंकर जी काव्यतीर्थ ने वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय में १०४०२ मंत्र

बतलाये है। सर्वानुक्रमणिका के विवरण में १०५५२ मंत्र कहे हैं। तथा चरण व्यूह के टीकाकार महीदास ने १०४७२ गिने हैं। सत्य व्रतसाम-श्रमी ने १०४४२ मंत्र निश्चित किये हैं। तथा वर्तमान संहिता मे १०४४० दश हजार चार सौ चालीस मंत्र हैं। आर्यसमाज के मान्य वेद में इतना हेरफेर है तो इसको वेद कैसे माना जावे क्योंकि स्वामी जी के कथनानुसार वेद मे विपरीतता तथा एक अक्षर की भी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। परन्तु इसमे तो सैकड़ों मंत्रों का हेर फेर है। अतः वर्तमान ऋग्वेद नहीं हो सकता। अत असली वेद का पता लगाना चाहिये।

यजुर्वेद

जैसी अवस्था हमने ऋग्वेद की दिखलाई है वही अवस्था यजुर्वेद की है। श्री स्वामी दयानन्द जी ने इसकी मन्त्र संख्या १९७५ लिखी है तथा आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान प० शिवशङ्कर जी ने १९७४ माने हैं। तथा आर्यसमाज के महा विद्वान प० सातवलेकर जी ने इस वेद के १४०० मन्त्र ही स्वीकार किये है। तथा च प० जयदेव जी विद्यालङ्कार स्नातक गुरुकुल कांगडी ने अपने यजुर्वेद भाष्य मे अग्निपुराण का श्लोक दिया है उसमे १९९९ मन्त्र बतलाये हैं। इसी भाष्य में योग्य स्नातक जी ने एक नवीन मन्त्र और भी दिया है। इस प्रकार आर्य विद्वानों का ही इस विषय मे घोर विरोध है। इस लिये यह भी असल वेद नहीं, क्योंकि इसमें भी न्यूनाधिकता पाई जाती है।

सामवेद

वास्तव मे यह कोई पृथक् वेद नहीं है अपितु ऋग्वेद के गाये जाने वाले मन्त्रों का संग्रहमात्र है इसमे सभी विद्वानों का एक मत है।

पं० जयदेव जी सामवेद भाष्य की भूमिका मे लिखते है कि वास्तव में देखा जाय तो "गीतिषु सामाख्या" (जैमिनीय सूत्र) गान की रीति का नाम ही साम है। परन्तु बिना छन्दोमय ऋचाओं के गान किस आधार पर वास करे, यह ऋचाओं मे ही वास करेगा। इसीलिये वेदों के सिद्धान्त रूप उपनिषद ग्रन्थो ने यही निर्णय किया है कि ऋग्वेद मे आश्रय पाये हुए साम का ही गान होता है।

मीमांसा दर्शन का भाष्य करते हुए उसी उक्त सूत्र के भाष्य मे श्री प० आर्यमुनि जी ने उपरोक्त ही भाव दिया है तथा उन्होने यह भी स्पष्ट

लिखा है कि वर्तमान संहिताओं में संकरता है अर्थात् इनका संग्रह ठीक नही है अपितु गड़बड़ है। अस्तु, जब यह पृथक् वेद ही नहीं तो इस विषय मे विचार करना व्यर्थ सा है। मन्त्रों की संख्या के विषय मे इसमें विद्वानों का विरोध है। यथा पण्डित तुलसीराम जी स्वामी ने सामवेद भाष्य मे मन्त्र संख्या १८७३ लिखी है। वैदिक यन्त्रालय अजमेर की छपी पुस्तक मे १६२४ मन्त्र है। वर्णानुक्रमणिका के अनुसार १८६३ मन्त्र होते है। सायण भाष्य सामवेद मे १८०८ मन्त्र हैं। तथा प० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ वैदिक इतिहास निर्णय मे १५४६ पन्द्रह सौ उनचास मन्त्र मानते है। प० सातवलेकर केवल ७० ही मन्त्र मानते हैं।

अथर्ववेद

अथर्ववेद के विषय में भी विद्वानो मे घोर विरोध है। वास्तव में तो अजमेर के वैदिक यन्त्रालय मे जो छपा है वह वेद नहीं है। क्योंकि अथर्ववेद के विषय मे श्री स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका के वेद संज्ञा विषय मे महा भाष्यकार पतञ्जलि मुनि का प्रमाण देकर लिखा है कि अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र (शन्नोदेवी रभिष्टये) है तथा च गोपथ ब्राह्मण जो कि अथर्ववेद का ब्राह्मण है उसमें भी लिखा है (शन्नोदेवी रभिष्टये) इत्येवमादिं कृत्वा अथर्ववेदमधीयते। अर्थात (शन्नोदेवी) इस मन्त्र को आदि मे करके अथर्ववेद पढा जाता है।

बस, महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि तथा स्वामी दयानन्द जी तथा गोपथ ब्राह्मणकार सब एक स्वर से यह कहते हैं कि अथर्ववेद वह है जिसका प्रथम मन्त्र 'शन्नोदेवी' हो परन्तु अजमेर मे छपी तथा जयदेव कृत भाष्य अथवा क्षेमकरण आदि सामाजिक विद्वानों के भाष्य जिस पुस्तक पर हैं उसमे प्रथम मन्त्र ' ये त्रिशप्ता'' है अत: यह सब ही स्वामी जी के कथनानुसार वेद नही है अपितु वेद का व्याख्यान रूप शौनक शाखा है।

मंत्र संख्या।

अजमेर की छपी अथर्ववेद सहिता में तथा सायण भाष्यमे मन्त्रों की सख्या ५९७७ है परन्तु सेवक लाल की छपाई हुई संहिता मे ५९३७ मन्त्र है। अत: उपरोक्त लेख से यह स्पष्ट हो गया कि स्वामी जी महाराज के सिद्धान्तानुसार यह पुस्तके वेद नही है।

अभी श्रीमान पं० सातवलेकर जी ने अथर्व वेद संहिता मूलमात्र प्रकाशित की है, उसमे आपने एक विस्तृत विवेचनात्मक संस्कृतमे भूमिका भी लिखी है, उसमें अथर्ववेद मे कितना विकार हुआ है यह विषय देखने योग्य है।

वेदभाष्य

श्री स्वामी जी महाराज ने वेदों पर अपनी लेखनी चलाने की कृपा की है। आपने वेदभाष्य के विक्रयार्थ पृ० ८ पर एक विज्ञापन छपवाया था। उसमें लिखा था कि "ये वेद भाष्य अपूर्व होता है, अर्थात् अत्यन्त उत्तम बनता है। क्योंकि इसमें अप्रमाण व कपोल-कल्पित लेख नहीं होता। जो बड़े विद्वान आर्यावर्तवासी प्रथम हो गये हैं वे वेदों के अर्थ को यथावत् जानते थे। जो कि सत्यवादी जितेन्द्रिय और धर्मात्मा थे तथा जिनकी बुद्धि मे सदा परोपकार करना ही रहता था। जो कि वेदो मे परम विद्वान थे और जिनकी निष्ठा एक अद्वितीय ब्रह्म में थी, जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्य्यन्त मुनि जोकि मननशील थे, ऋषि जो कि वेद मन्त्रो के अर्थ को यथावत जानने वाले थे उनके किये सनातन जो ग्रन्थ है, शिक्षा, कल्प निरुक्त, ब्राह्मण आदि जो वेद के सत्यार्थ युक्त व्याख्यान हैं उन सबके प्रमाणों सहित तथा मूल वेदों के भी प्रमाणों सहित यह वेदभाष्य रचा जाता है। इति" *

परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि स्वामी जी का वेदभाष्य व्याकरण, ब्राह्मण निरुक्त आदि सम्पूर्ण शास्त्रों से विरुद्ध और स्वयं वेद से भी विरुद्ध है। यही नहीं अपितु असगत है और वेदों के गौरव को घटाने वाला है। इसके कुछ उदाहरण हम यहां उपस्थित करते हैं। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका नौ विमान प्रकरण पर एक मन्त्र ऋग्वेद म० १ सूक्त १६४ मं० ४८—

> द्वादश प्रधयश्च क्रमेके, त्रीणि नभ्यानि क उतश्चिकेत।
> तस्मिन्त्साके त्रिशतानि शकवो ऽर्पिता षष्टिर्न चला चलासः॥

इसमें आपको हवाई जहाजकी गन्ध आ गई, अत आपने लिख दिया कि यानों के बाहर भी खंभे रखने चाहिये जिनमें सब कला-यन्त्र लगाये जांय उनमे एक कलायन्त्र भी बनाना चाहिये जिसके घुमाने से

---

* मासिक ऋग्वेद भाष्य के विज्ञापन मे।

सब कला घूमें। फिर उसके बीच मे तीन चक्र रखने चाहिये जो एक के चलाने से सब रुक जांय और उनके निकाल लेने से सब अलग हो जांय। उनमें ६० कलायन्त्र रखने चाहिये, उनमे कई एक चलते रहें तथा कई बन्द रहें।

अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तो तब भापके घरके ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिये, और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तो ऊपर के मुख अनुमान से खोल देने चाहिये। ऐसे ही जब पूर्वको चलाना हो तब पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिये इसी प्रकार उत्तर दक्षिण के जान लेना।" स्वामी जी का यह अर्थ स्वकल्पित असत्य, एवं प्राचीन सब ऋषि मुनियों के विरुद्ध है।

(१) यह अर्थ निरुक्त के विरुद्ध है, क्योंकि निरुक्त, अध्याय ४ पा० ४ खंड ५ में महर्षि यास्क ने इसी मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है कि—

द्वादश प्रधयश्च क्रमेकमिति.. . ...
मासानां मासा भानान् प्रधि प्रहितो भवति शष्टिश्च ह्वै त्रीणि च शतानि च सम्वत्सरस्य अहोरात्रा इति ...... "

(२) यह अर्थ ब्राह्मण के विरुद्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण १।३।५ में "द्वादश प्रधयः, द्वादश मासा सम्वत्सरस्य।"

यह लिखकर निरुक्त की पुष्टि की है। (३) यह अर्थ व्याकरण के भी विरुद्ध है। क्योंकि यहां अर्पिता का अर्थ 'चाहिये' किया है जिस को संसार का कोई भी वैयाकरण किसी भी व्याकरणसे सिद्ध नहीं कर सकता तथा 'घूमे, अलग हो जाय आदि क्रियाओं का मन्त्रमे नितान्त अभाव है, मालूम नहीं स्वामी जी ने किस नियमानुसार इनका अध्याहार किया है।

(४) यह अर्थ वेद-विरुद्ध है, क्योंकि इस मन्त्र का देवता सम्वत्सर है। स्वामी जी ने देवता विषय (मजमून) को माना है। अतः यह अर्थ वेदविरुद्ध है।

(५) यह अर्थ असंगत भी है क्योंकि ऐसा करने से पूर्वापर मन्त्रों की संगति नहीं लग सकती।

(६) स्वामीजी ने ऋग्वेद भाष्य में इस मन्त्र का अर्थ हवाई जहाज

के बजाय रेलगाड़ी निकाला है। परन्तु मन्त्रों की संगति न लगा कर वेद भाष्य असंगत हो गया है। अभिप्राय यह है कि वेद से लगाकर यास्क ब्राह्मणकार आदि सब ऋषि मुनि एक स्वर से द्वादश प्रधय: के अर्थ सम्वत्सर के १२ मास करते हैं, त्रीणि नभ्यानि के अर्थ तीन ऋतुयें तथा सम्वत्सर का अर्थ ३६० दिन करते हैं।

परन्तु स्वामी जी ३६० कीलें अर्थ करते हैं। इसी प्रकार के विचित्र अर्थों से यह भाष्य सुभूषित किया गया है। फिर यह विज्ञान किस लिये निकाला गया इसके रहस्य को आज कौन जान सकता है। आशा है कि भविष्य में आर्य विद्वान अवश्य उन्नति करेंगे और इसका अर्थ उड़न बम और टैंक करनेकी कृपा करेंगे क्योंकि ऐसा न करनेसे वेद अपूर्ण रह जायेंगे।

सच तो यह है कि इस प्रकार के असत प्रयत्नों से वेदों का महत्व बढ़ाने की आशा करना दुराशा मात्र है। हमें तो आश्चर्य इस बात का है कि इतने बड़े सुधारक की महानात्मा ने ऐसा मिथ्या लेख लिखने की आज्ञा किस प्रकार दी है। क्या मोक्षमूलर के शब्दों में अन्य सुधारकों की तरह स्वामी जी भी अपने खुशामदी अनुयायियों से ठगे गये थे, जिस का यह परिणाम है ? अथवा वेदों को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करने की धुन में आप इतने विह्वल हो गये थे जिससे उनको सत्य असत्य का कुछ भी ख्याल नहीं रहा था।

यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २६ त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे.......... का भाष्य स्वामी दयानन्द जी महाराज इस प्रकार करते हैं। "मेरा तीन प्रकार का भेड़ों वाला और इससे भिन्न सामग्री, मेरी तीन प्रकार की भेड़ों वाली स्त्री और उनसे उत्पन्न हुये घृत आदि।.... ...मेरा पांच प्रकार की भेड़ों वाला और उसके घृतादि, मेरी पांच प्रकार की भेड़ों वाली स्त्री और उसके उद्योग आदि। मेरा तीन बछड़ों वाला"........ आदि.........।" ईश्वर के तीन वा पांच भेड़ों वाला पुत्र या नौकर आदि, तीन और पांच भेड़ वाली ईश्वर की स्त्री न मालुम कहां चली गई जिनको ईश्वर बार बार याद करता है। सम्भवत: यह मर गये हों और उनको ईश्वर याद करता हो। अथवा किसी गड़रिये को देखकर अपनी तीन और पांच भेड़ वाली स्त्री याद आ गई हो।

इस भाष्य को देखकर हमें एक किस्सा याद आ गया। "एक कुम्हार

बहुत से गधे लिये जा रहा था। मार्ग में एक वैरागी साधु बैठा था। उसने कुम्हार को बुलाकर कहा तेरे पास इतने गधे कहां से आये? कुम्हार ने उत्तर दिया—"यह सब आपकी ही कृपा है।" वैरागी ने कहा अबे कृपा के भाई! शास्त्रोंमें तो लिखा है कि—"दोग्धा गोपालनन्दनः" अर्थात् श्री कृष्ण भगवान के दो गधे थे तो तेरे पास इतने कहां से आ गये?'

ठीक यही बात यहां स्वामी जी महाराज ने की है उन्होंने भी ईश्वर को तीन और पांच भेदों वाली को लिखकर यह नियम बनाया होगा कि कोई भी गडरिया इससे अधिक भेदों वाली को न रख सकेगा। ऐसा वैज्ञानिक और सर्वाङ्गपूर्ण भाष्य होते हुए भी यदि कोई वेदों को ईश्वर रचित न माने तो उसका यह हठ धर्म ही है। हम कहां तक लिखें इसी प्रकार की सम्पूर्ण सत्य विद्याओं से यह भाष्य परिपूर्ण है। इस अपूर्व अनुपम, वेद भाष्य के विषय मे मोक्षमूलर का यह कहना है कि "बड़े ही दुख की बात है कि उनके किये गये वेद भाष्यों पर इतना रुपया खर्च किया गया'. . .वास्तव में उनकी अज्ञता की जिन्दा मिसाल है।

नोट—जो सज्जन इन भाष्यों का अधिक रसास्वादन करना चाहें वे हमारी लिखी हुई "स्वामी दयानन्द और वेद" तथा "वेदों का भयानक सुझंमा" नाम पुस्तकें देखें।

वेदों की रचना-समय विचार

"विश्ववाणी" (वर्ष २ भाग ३ संख्या १ पृ० १५०)

सहज बुद्धि हमें यही मानने के लिये विवश करती है कि वैदिक ऋषि क्या थे, दिनों की गणना मन्त्रों के अक्षरों और कुश आदि से करते थे, इन चीजों का कोई पौराणिक या धार्मिक तात्पर्य नहीं हो सकता। ऋग्वेद की उपरोक्त अन्य ऋचाओं से मुख्य आशय यह निकलता है कि इन्द्र और अग्नि शुक्ल दूज और पूर्णिमा के विशेष तिथियों के नाम थे और इनके आने का जिक्र बार बार आता है। यह समझ लेने पर हम उस कथा को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिसके अनुसार किसी पक्षी या गाय द्वारा शुक्ल दूज के लाने का जिक्र मिलता है।

"जगती" और "त्रिष्टुप" छन्दों में २ या ३ अक्षरों की कमी हो आने की कहानी प्रचलित है। उस समय मन्त्र के अक्षरों से दिनों की गणना होती थी। यदि नया चन्द्रमा या पूर्णिमा का चन्द्रमा छन्दके अक्षरों की

संख्या से २ या ३ दिन बाद निकलता तो उस समय के प्रचलित तरीके से लोग कहते हैं कि नये चन्द्रमा को लाने में यह छन्द २ या ३ अक्षरों से घट गया। उस काल में एक प्रथा यह भी थी कि यज्ञ मंडप के बीच अलग २ सूखी और हरी दूर्वा बिछा देते थे। सूखी दूर्वा दिनकी प्रतीक थी और हरी दूर्वा रात्रि की प्रतीक थी। इन्हीं दूर्वाओं को देखकर लोग प्रार्थना मन्त्र करते रहते थे।

इसलिये यह स्पष्ट है कि प्रत्येक युग की समाप्ति पर उस युग मे जितने दिन थे उतने ही अक्षरों के मन्त्र रचे जाते थे। इस तरीके से वैदिक ऋषि बीते हुए दिनों का हिसाब रखते थे और इसी हिसाब से वे दूज और पूर्णिमा की तिथियों को ठीक ठीक अनुमान कर सकते थे। इसी तरीके से वे मल मास के दिनों और यज्ञ के विशेष दिनो का भी हिसाब रखते थे इसी सिद्धांत को सामने रखकर 'सतपथ ब्राह्मण' के रचयिता ने ऋग्वेद के समस्त अक्षरो को जोड डाला और हिसाब लगाया कि पूरा ऋग्वेद कितने वर्षों मे लिखा गया।

प्रजापति ने अपने मन मे सोचा कि सृष्टि की जितनी भी वस्तुएँ है वे सब त्रिगुणों मे आ जाती है तो मैं अपने लिये एक ऐसी देह बनाऊं कि जो इन त्रिगुणों को अन्दर रख सके।

"उसने ऋग्वेद के मन्त्रो को बारह हजार बृहति (हर बृहति छन्द मे ३६ अक्षर होते है) मे बांटा, (यह इसलिये कि प्रजापति ने इतने ही मत्रों की रचना की थी।) तीसवें भाग मे पंक्ति २ (पंक्ति मे ४० अक्षर होते हैं) को रखा। चूंकि ३० भागो मे बृहति रखा गया इसलिये महीने मे ३० रातें होती हैं। इसके बाद प्रजापति ने पंक्ति की रचना की। कुल पंक्ति १०,८०० है।

फिर उसने अन्य दो वेदों को १२ हजार बृहति में लिखा। ८ हजार यजुः मे और चार हजार साम मे। इन वेदों मे भी प्रजापति ने इतने ही मन्त्रों की रचना की (शतपथ ब्राह्मण १०, ४, २, २२, २४) यहां पर प्रजापति से तात्पर्य वर्ष से है। ऊपर के उद्धरण में प्रजापति का प्रयोग वर्ष के अर्थ में ही किया गया है। प्रजापति के देह से तात्पर्य एक युग या कुछ वर्षों के एक काल से है। वैदिक आर्य ३६० दिन के सावन वर्ष को मानते थे और ३६५¼ सौ वर्ष के अन्तर को वे हर चौथे सावन वर्ष के बाद २१ दिन जोड़कर पूरा करते थे। इस तरह ऋग्वेद के ३६ अक्षरों के

१२, ००० बृहति मन्त्रोंके ४, ३२, ००० अक्षर हो जाते हैं। इस हिसाबसे ४, ३२, ००० दिन या १२०० सावन दिन होते हैं। इस तरह शतपथ ब्राह्मण के रचयिता के अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद १२०० वर्षों में लिखा गया शतपथ ब्राह्मण का रचयिता यजुर्वेद का और सामवेद का रचना-काल भी १२०० वर्ष मानता है। इस हिसाब से समस्त वेद २४०० वर्षों में लिखे गये। किन्तु अन्य बातों को देखते हुये ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्रों की रचना ऋग्वेद के मन्त्रों की तरह दिनों की गणना को ध्यान में रखकर नहीं हुई।

सत्यार्थप्रकाश और जैनधर्म

[४]

असली सत्यार्थप्रकाश १२ समुल्लासों मे समाप्त हुआ था। बारहवें समुल्लास मे चारवाक् मत के कुछ श्लोक लिखकर स्वामी जी ने जैनधर्म का कुल ११ पृष्ठों में कुछ थोड़ा सा खण्डन लिखा था। स्वामी जी ने न तो चारवाक् मत के विषय मे कुछ ज्ञान प्राप्त किया था और न जैनधर्म के विषय में। अत: स्वामी जी ने भूल से चारवाक और जैन मत को एक समझ लिया था। इस के सिवा उसमें किसी भी जैनशास्त्र का प्रमाणादि नहीं लिखा और न उस विषय में कुछ खण्डन मण्डन ही लिखा है। हां इस नकली सत्यार्थप्रकाश मे जैनधर्म के ऊपर गालियों की बौछार करने की कृपा है। यह समुल्लास स्वामी जी का बिलकुल नहीं लिखा हुआ है।

१- श्री स्वामी जी महाराज व्याकरणके पूर्ण विद्वान थे परन्तु बारहवें समुल्लास का लेखक व्याकरण से नितान्त अनभिज्ञ है

२- श्री स्वामी जी वेदशास्त्रों के तथा दर्शन और साहित्य आदि के विद्वान थे परन्तु बारवें समुल्लास के लेखक में इन सब का

सर्वथा अभाव है। अर्थात् न वह वेद जानता था न अन्य शास्त्र साहित्य और न दर्शन। ❀

३– श्री स्वामीजी ने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका आदि पुस्तकों मे कहीं भी किसी महापुरुष को गालियां नहीं दी हैं तथा स्वामी जी जब जोधपुर मे थे, स्वामी जी ने अपने मुखारविन्द से फरमाया था कि मैं किसी व्यक्ति विशेषको कटु वचन नहीं कहता तथा न कठोर कहने का मेरा स्वभाव ही है। ×
परन्तु यहा महापुरुषो को गन्दी गालियां दी गई हैं।

४– स्वामी जी की स्मरण शक्ति बड़ी बलवती थी परन्तु इस लेखक को अपना पूर्व का लिखा हुआ भी स्मरण नहीं रहता।

५– स्वामी जी धार्मिक मामलो मे छल–कपट को पाप समझते थे परन्तु यह लेखक महाशय छल–कपट–धोखा देना अपना परम कर्तव्य समझता था।

६– स्वामी जी विद्वानो के पक्षपात को ही भारतवर्ष की दुर्गति का मूल कारण समझते थे। परन्तु यह लेखक महाशय पक्षपात हठ, और दुराग्रह को साक्षात मूर्ति है।

इत्यादि अनेक आंतरिक प्रमाण भी इस बात के प्रमाण है कि यह समुल्लास स्वामीजी का बनाया हुआ नहीं है। उपरोक्त सब बातोंको हम यथा–स्थान सिद्ध करेंगे। सत्यार्थ प्रकाश मे प्रथम ही पृष्ठ ४ ५ पर इस प्रकार जैनधर्म के विषय में लिखा है—

"जो बारहवें समुल्लास मे चारवाक का मत यद्यपि इस समय क्षीणास्त सा है और यह चार्वाक बौद्ध-जैन से बहुत सम्बन्ध अनीश्वर वादादि मे रखता है। ··· " आगे आप लिखते हैं कि और जैन भी बहुतसे अशोंमे बौद्ध और चार्वाक के साथ मेल रखता है और थोडी

❀ इमी पर भी जब कुछ गुजरात वाले ला० ठाकुरदास जी ने स्वामी जी को ता० १३ जून सन १८८२ ई० को मिस्टर स्मिथ एण्ड फियर की हाईकोर्ट की मार्फत नोटिस दिया तो स्वामी जी ने उसे सुधारने का आश्वासन दिया।

× स्वामी सत्यानन्द जी द्वारा लिखित स्वामी जी का जीवन–चरित्र।

सी बात में भेद है इस लिये जैनों की भिन्न शाखा गिनी जाती है।"
इसके पश्चात् आप लिखते हैं कि जैनियों के ग्रन्थों मे लाखों पुनरुक्त दोष हैं और इनका यह भी स्वभाव है कि जो अपना ग्रन्थ दूसरे मत वाले के हाथ में हो या छपा हो, तो कोई कोई उस ग्रन्थ को अप्रमाण कहते हैं यह बात इनकी मिथ्या है क्योंकि जिसको कोइ माने, कोई नहीं इस से वह ग्रन्थ जैन मतसे बाहर नहीं हो सकता। हां, जिसको कोई न माने और न कभी किसी जैनी ने माना हो तब तो अग्राह्य हो सकता है। परन्तु ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं जिसको कोई भी जैनी न मानता हो। इस लिये जो जिस ग्रन्थ को मानना होगा उस ग्रन्थस्थ विषयक खण्डन मण्डन भी उसी के लिये समझा जाता है। परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं कि उस ग्रन्थ को मानते जानते हो तो भी सभा या सवाद मे बदल जाते है, इसी हेतु से जैन लोग अपने ग्रन्थों को छिपा रखते है और दूसरे मतस्थ को न देते न सुनाते और न पढ़ाते है इस लिये कि उनमें ऐसी २ असम्भव बातें भरी हैं जिनका कोई उत्तर जैनियो मे से नहीं दे सकता, झूठ बात को छोड देना ही उत्तर है।"

(उत्तर)–बारहवें समुल्लास मे तथा उसकी भूमिका मे स्वामी जी महाराज ने चार्वाक, बौद्ध और जैन धर्म्म का इसी प्रकार का कथन किया है। पृष्ठ ४१५ मे आप लिखते हैं कि चारवाक, आभाणक बौद्ध और जैन भी जगत की उत्पत्ति स्वभाव से मानते है। आगे आप कहते हैं कि कोई कोई बात छोड़कर इन तीनों का (चारवाक, बौद्ध, जैन) मत एक सा है।

आगे आप पृष्ठ ४१८ मे लिखते हैं कि और बौद्ध, जैन, प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण, अनादि जीव, पुनर्जन्म, परलोक और मुक्तिको भी मानते हैं, चारवाक से बौद्ध और जैनियो का भेद है। परन्तु नास्तिकता, वेद ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष छः (६) यतना आगे कहे ६ कर्म और जगत का कर्ता कोई नहीं इत्यादि बातों मे सब एक ही है।

आगे आप पृ० ४२४ पर लिखते हैं कि जिनको बौद्ध तीर्थंकर मानते हैं उन्हीं को जैन भी मानते है। आगे पृ० ४२० पर बौद्धों का खण्डन करते हुए लिखा है। इसको जैन लोग भी मानते हैं। आगे पृ० ४२७ मे लिखा है कि राजा शिवप्रसाद जी इतिहास तिमिर नाशक ग्रन्थ मे लिखते है कि इनके दो नाम हैं एक जैन दूसरा बौद्ध। ये पर्यायवाची

शब्द हैं, परन्तु बौद्धों में वाममार्गी, मद्य-मांसाहारी बौद्ध हैं, उनके साथ जैनियों का विरोध है। परन्तु जो महावीर और गौतम गणधर हैं उन का नाम बौद्धों ने बुद्ध रक्खा है, इत्यादि।

आगे अमरकोष से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जिन, बुद्ध आदि पर्यायवाचक शब्द हैं अत: जैन और बौद्ध एक हैं श्री स्वामी जी महाराज १२वें समुल्लास के आरम्भ में ही लिखते हैं कि जब आर्यावर्तस्थ मनुष्यों में सत्यासत्य का यथावत निर्णय करने वाली वेद विद्या छूट कर अविद्या फैलने से मतमतान्तर खड़े हुए वही जैन आदि के विद्या विरुद्ध मत प्रचार का निमित्त हुआ। क्योंकि बाल्मीक और महाभारत आदि में जैनियों का नाम मात्र भी नहीं लिखा, आदि ....।

उत्तर—"आज संसार का एक भी ऐतिहासिक विद्वान इस बात को स्वीकार नही करता कि जैन और बौद्ध एक हैं। आज आर्यसमाज के विद्वान भी इसको स्वामी जी की बड़ी भारी भूल मानते है। गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार ने भी भारतीय इतिहास की रूप रेखा मे जैनमत को बौद्धधर्म से पुरातन सिद्ध किया है। गुरुकुल के आचार्य प्रोफेसर रामदेव जी ने भी भारतवर्ष के इतिहास मे बौद्धधर्म और जैनधर्म को पृथक पृथक मानकर स्वामी जी की भूल को स्वीकार किया है। तथा यूनिवर्सिटी पञ्जाब ने भी श्री पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति मानकर जैन धर्म की प्राचीनता को मान लिया है। अतः इस विषय पर कुछ लिखना सूर्य को प्रकाश दिखाना है। परन्तु स्वामी जी ने जो प्रमाण दिये हैं उनपर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। पहला प्रमाण आपने राजा शिवप्रसाद जी के इतिहास तिमिरनाशक का दिया है। यही प्रमाण स० १८७५ ई० के छपे सत्यार्थ प्रकाश मे थे। इसपर गुजरानवाला की जैन पंचायत ने राजा शिवप्रसाद जी को पत्र लिखा उस का उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया था—

श्री सकल जैन पंचायत गुजरान वाला शिवप्रसाद का प्रणाम पहुंचे कृपापत्र पत्रों सहित पहुंचा।

१–जैन और बौद्ध एक नहीं है, सनातन से भिन्न चले आये हैं। जर्मन के एक बड़े विद्वान ने इसके प्रमाण में एक ग्रन्थ छापा है।

२–चारवाक और जैन से कुछ सम्बन्ध नहीं, जैन को चारवाक कहना ऐसा है जैसे स्वामी दयानन्द जी महाराज को मुसलमान कहना है।

३—इतिहास तिमिरनाशक का आशय स्वामी जी की समझ मे नहीं आया।.......

४-जो स्वामी जैन को इतिहासतिमिर-नाशक के अनुसार मानते हैं तो वेदों को भी उसके अनुसार क्यों नहीं मानते।

आपका—शिवप्रसाद,
बनारस १ तारीख जनवरी, सन १८७६

स्वामी जी के उपरोक्त सम्पूर्ण कथन का खण्डन यह पत्र ही कर रहा है। इसके पश्चात स० १८८२ ता० १३ जून को ला० ठाकुरदास जी ने स्वामी जी को एक नोटिस दिया जिसका जिकर हम पूर्व कर चुके हैं। उस नोटिस का उत्तर स्वामी जी ने ता० १६ जून स० १८८२ को मिस्टर पेनी एण्ड गिलक्रिस्ट द्वारा दिया। उसमे स्वामीजी ने लिखा कि यदि आप लोग यह सिद्ध कर देंगे कि मेरा लिखा गलत है तो मैं मान लूंगा। अफसोस आप फिर बीमार पड गये और सं० १८८३ में आपने इस भौतिक देह का त्याग कर दिया। उनके एक वर्ष बाद यह सत्यार्थप्रकाश छपा। इसमे अनेक नादान दोस्तों ने उनकी बदनामी करवाने के लिये इसमें फिर इस विषय को छाप दिया। हमारा विश्वास है कि यदि स्वामी जी होते तो इस प्रकार का (मिथ्या तथा विद्वानों में उपहास का कारण हो) लेख को कभी न छापने देते।.......... "

अमर कोष

२—दूसरा प्रमाण आपने अमरकोष का दिया है और लिखा है कि क्या अमरसिंह भी भूल गया।

(उत्तर)—अमरसिंह भूला या नहीं भूल गया परन्तु जैन और बौद्धों को एक सिद्ध करने के लिये जिसने इन श्लोकों को लिखा है उसने अवश्य बडी भारी भूल की है। भला इन से कोई पूछे कि आप के लिखे हुए श्लोकों में किस शब्दका यह अर्थ है कि जैनधर्म और बौद्धधर्म एक है यदि यह कहो कि 'जो नाम तीर्थंकर भगवान महावीरके हैं वे ही नाम यहां बुद्ध भगवान के लिखे हैं इस लिये ये एक हैं।' तो क्या महाराज युधिष्ठिर और बुद्धको भी एकही मानोगे ? क्योंकि इस में बुद्ध भगवानका नाम धर्मराज जी लिखा है, यही नाम महाराज युधिष्ठिर का भी था। तथा इसमे 'भगवान' नाम भी आया है, क्या भगवान कृष्ण आदि सब

एक हो गये ? अब तो आर्य भाई स्वामी दयानन्द को भी भगवान मानते हैं तो भगवान बुद्ध और स्वामी दयानन्दजी महाराज एक हो गये ? किसी एक औपाधिक नाम की समानता से सबको एक लिखना यह कौन उचित समझ सकता है।

१—(नोट)—सत्यार्थप्रकाश पृ० ६५ मे आपने स्वयं अमरसिंह का मान गाली-प्रदान से किया है। आपको हाल मे तो अमरसिंह भूल ही नहीं सकता था फिर यहां उसे इतना क्यों गिरा दिया। इसका निर्णय वाचक वृन्द स्वयं करें।

तथा च आपके लिखे हुए श्लोकों मे ही आपके मत का खण्डन विद्यमान है इसपर आपने बयान नहीं दिया। उसमे 'शौद्धोदनी तथा माया देवी सुत' यह दो नाम भी भगवान बुद्ध के लिखे हैं। यह दोनों नाम सकारण हैं, क्योंकि उनके पिता का नाम शुद्धोदन तथा माता का मायादेवी था। परन्तु भगवान महावीर स्वामी के पिता का नाम सिद्धार्थ तथा उनकी माता का नाम त्रिशलादेवी प्रसिद्ध है। प्रतीत होता है कि अमर सिंह ने इन दो नामोंको इस लिये लिखा था कि कोई अन्य व्यक्ति नामों की समानता देख कर बुद्ध, महावीर स्वामी आदि को एक न समझ ले। उसे क्या मालूम था कि ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं जो इतना लिखने पर भी उनकी समझ मे न आवेगा। यदि वह ऐसा जानता तो अवश्य ही इसको अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करता।

३—एक बात आपने और लिखी है वह यह कि जो अविद्वान जैन हैं वे तो न अपना जानते है, न दूसरों का, केवल हठ मात्र से बड़ाया करते हैं परन्तु जो जैनों मे विद्वान हैं वे सब जानते हैं कि "बुद्ध" और 'जिन" तथा "बौद्ध" और "जैन" पर्यायवाची हैं।

(उत्तर)—'बड़ाया करते हैं' इस वैदिक भाषा का उत्तर तो कोई आप जैसा महर्षि ही दे सकता है। परन्तु आपने जो यहां बुद्धिमानी की है वह तो शोकजनक है। भला कोई कहे कि "दयानन्द" और कृपानन्द पर्यायवाची हैं अत: जो स्वामी दयानन्द हैं वे ही कृपानन्द हैं, कृपानन्द अन्य कोई व्यक्ति विशेष नहीं हुआ तो उसके विषय मे विद्वान उपेक्षा दृष्टि ही रख सकते हैं।

४—सत्यार्थ प्रकाश का उपरोक्त लेख परस्पर विरुद्ध भी है। क्योंकि

पृ० ४१८ पर तो आपने लिखा है कि "बौद्ध" और 'जैन' प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण मानते हैं। तथा पृ० ४२३ में लिखा है कि बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं...... ....आगे बौद्धधर्म का खण्डन करके पृ० ४२४ मे लिखा है कि इसको जैन लोग भी मानते हैं। अत: यहां पर सिद्ध करते है कि जैन और बौद्ध दो ही प्रत्यक्ष और अनुमान को मानते है।"

जो व्यक्ति अपने लिखे का स्वयं विरोध करता है, तथा जिसे यह भी स्मरण नहीं कि मैं अभी क्या लिख आया था वह व्यक्ति जैनधर्म जैसे वैज्ञानिक धर्म पर कलम चलाने का साहस करता है यह सब धार्मिक जगत का दुर्भाग्य ही है।

५—महाभारत और बाल्मीकि रामायण आदि मे जैनधर्म का नाम नहीं, अत: यह धर्म नया है। कुरान, बाईबल आदि प्राचीन तथा लाखों नवीन पुस्तकें हैं जिनमे वेदों का व वैदिक धर्म का जिकर तक नही अत: आपकी युक्ति के अनुसार वेद और वैदिक धर्म भी इन सब के पश्चात् चला है? बौद्ध व जैनधर्म के भी सैकड़ों ग्रन्थ हैं जिनमे वेदों का नाम तक भी नहीं अत: वेद उन ग्रन्थों के बाद मे बने सिद्ध हुए। धन्य है, इस तर्क के बल पर आप जैनधर्म का खण्डन करना चाहते हैं। रह गया रामचन्द्र आदि का नाम जैन ग्रन्थो मे होना। सो तो इनका जिकर जैन होने के नाते से है। इसका विस्तार पूर्वक वर्णन हम "भारत का आदि सम्राट" पुस्तक मे कर चुके हैं। इसी पुस्तक में आगे भी लिखेंगे।

जैनी अपने ग्रन्थ नहीं दिखाते। आदि............लिखा है सो—

६—इस विषय में स्वामी जी महाराज ने प्रमाण तक भी नहीं लिखा यदि कोई प्रमाण न था तो किसी व्यक्ति का फर्जी नाम ही लिख देते ताकि यह तो हो जाता कि आपने नाम तो लिख दिया। आज प्रत्येक जैन शास्त्र छप गया है जो चाहे खरीद कर पढ़ सकता है। रह गई पहले की बात सो आपने किससे पुस्तक मांगी थी? जिसने आपको इन्कार कर दिया यह आपने लिखने की कृपा नहीं की। अतएव इस निराधार कल्पना का उत्तर देना व्यर्थ है। वैदिक धर्मी तो शूद्रों के कान में वेदमंत्र पड़ जाने मात्र से उस व्यक्ति के कान में शीशा गरम करके डाल देते थे और इस प्रकार के विधान से अपने वैदिक धर्म को सफल बनाते थे।

श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज ने फर्रुखाबाद में एक पाठशाला खोली थी उसमें आपने यह नियम बनाया था कि इसमें शूद्र वेद नहीं पढ़ सकेंगे। (घासीराम जी द्वारा सम्पादित जीवन-चरित्र पृष्ठ २७१) तथा इसी सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ३८ में भी आप लिखते हैं कि जो कुलीन शुभ लक्षणयुक्त शूद्र हों तो उनको मन्त्र संहिता छोड़कर सब शास्त्र पढ़ावें।

शूद्रों को वेद नहीं पढ़ाने का तात्पर्य क्या है, क्या आपने जो इल-ज़ाम जैनियों पर लगाया है वही इलज़ाम आप पर नहीं आता। इन हथियारों से जैनियो का मुकाबला करना असम्भव है।

७—जैन ग्रन्थों में लाखों पुनरुक्त दोष हैं ? आदि

उत्तर—जब आपने जैनग्रन्थ देखे ही नहीं, न आपको किसी ने पढ़ाया, न जैन ग्रन्थ छपे तो आपने कैसे जान लिया कि इनमें लाखों पुनरुक्त दोष हैं। यदि आपको ग्रन्थ देखने को मिल गये तो आपका यह लिखना असत्य हुआ कि जैनी लोग किसी को ग्रन्थ नहीं देते न दिखाते न पढ़ाते आदि। 'मेरी मां वन्ध्या थी' वाली कहावत आपने खूब चरि-तार्थ की। यदि आपको पुनरुक्त का नमूना देखना था तो आप अपने वेद-भाष्य पर दृष्टि डाल लेते तो आपको विदित हो जाता कि पुनरुक्त दोष किसे कहते हैं।

जैनधर्म की प्राचीनता

श्री स्वामी जी महाराज लिखते हैं कि सत्यासत्य का निर्णय करने वाली वेद-विद्या छूट कर जब अविद्या फैली तब जैन आदि मत प्रचलित हुए। आदि · · ··· ··

उत्तर— वस्तु-स्थिति बिलकुल इसके विपरीत है। सबसे पहिले हम ऐतिहासिक दृष्टि से इसपर प्रकाश डालते हैं। अतएव पहले हम महाभारत को ही लेते हैं जिसकी दुहाई स्वामी महाराज ने दी है। महाभारत शान्ति पर्व अध्याय २३८—

पौरुषं कारणं केचिदाहु: कर्मसु मानवः।
दैवमेके प्रशंसन्ति स्वभावमपरे जनाः ॥४॥
पौरुषं कर्म दैवं च कालवृत्तिस्वभावतः
त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकं तु केचन ॥५॥

एतदेवं च नैवं च चोभे वानुभे तथा ।
कर्मस्था विषयं ब्रु युः सत्वस्था समदर्शिनः ॥६॥

अर्थ—कोई तो पुरुषार्थ को कारण कहते हैं तथा अनेक दैव को, बाकी के स्वभाव को, अन्य काल को, बहुत से तीनों को कारण मानते हैं। तथा जो कर्मस्थ समदर्शी जैन हैं वे कहते हैं कि किसी अपेक्षा से पृथक पृथक कारण हैं परन्तु किसी अपेक्षा से पृथक नहीं भी हैं। सब मिलकर भी कारण है। आदि··· ····· ।'

यहां कर्मस्था, सत्वस्था, समदर्शिनः, यह जैन मुनियों के यौगिक नाम हैं। महाभारत के सभी टीकाकारों ने यहां यही अर्थ किया है। यहां कर्मस्था: विषयं ब्रु युः का अर्थ है कि जैन लोग सब विषयों का वर्णन इसी प्रकार सप्तभागों द्वारा करते हैं। वर्तमान समय के पं० शिरोमणि नीलकंठ जी ने इन श्लोकों का बडा ही सुन्दर भाष्य किया है। 'तथा च आर्हतमतमाह, लिखकर स्याद्वाद स्वरूप बड़े सुन्दर शब्दोंमे प्रकट किया है। यदि स्वामी जी इन श्लोकों को देख लेते तो न उनको यह भ्रम रहता कि महाभारत मे जैनमत का नाम तक नहीं है तथा न स्याद्वाद के विषय मे उनकी गलत धारणा बनती।

तथा च महाभारत आदि पर्व अध्याय तीसरे मे—

साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठनोत्तंकस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ।
पथि नग्न क्षपणकमागच्छन्त मुहुर्मुहुः।
दृश्यमामानमदृश्यमान च ॥ १२६ ॥

यहा उनके द्वारा दिगम्बर जैन मुनियों का देखा जाना स्पष्ट लिखा है। तथा च शान्ति पर्व अध्याय २१८ मे बौद्धमत क्षणिकवाद का खण्डन किया है। तथा रायबहादुर चिन्तामणि जी ने महाभारत मीमांसा ज्योतिष प्रकरण मे लिखा है कि महाभारत के समय मे चन्द्रमा ऊपर माना जाता था तथा सूर्य नीचे। यह मान्यता जैन शास्त्रों के सिवाय अन्य कहीं नहीं है। इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता महाभारत से सिद्ध होती है। वर्तमान ज्योतिष विक्रमादित्य की प्रचलित की हुई है और आगे धर्मों के इतिहासमे लिखा है 'ऐतिहासिकोका यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्राचीन धर्म वाले वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल, पर्वत आदिमे जीव मानते थे। ससारमे एकमात्र जैनियों का ही यह सिद्धान्त है।'

इसी प्रकार आत्मा का वर्णन करते हुए लिखा है कि महाभारत मे

आत्माके काला, नीला, पीत और श्वेत आदि रंगो का कथन है। उस समय यही मान्यता थी। यह भी जैनियों की षड लेश्याओं का कथन है। अन्य किसी मत मे इन रंगो का कथन नहीं है। तथा च महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १०५-१०६ मे उपवासों का मूर्त वर्णन किया है, उसमें उपवास की तिथिया पचमी, कृष्णपक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी का ही कथन है। एकादशी आदि का नहीं। अत: यह भी जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करता है। महाभारत के उक्त सब प्रमाणों से जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध है। फिर नहीं मालूम स्वामी जी महाराज ने किसी के कहने से अथवा उनके किसी (महाभारत से अनभिज्ञ) शिष्य ने यह लिख दिया कि महाभारत मे जैनमत का जिकर नही है। किसी ने भी लिखा हो धार्मिक ग्रन्थों मे इस प्रकार का मिथ्या कथन शोभा नहीं देता।

रह गया बाल्मीकि रामायण का प्रश्न सो यह तो बहुत नवीन रचना है, तथा साम्प्रदायिक भाव से लिखी गई है। यही अवस्था महाभारत की है। फिर भी प्रसगवश उनमे कथन आ ही गया है।

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्य नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते॥

बालकाण्ड १ सर्ग के चौदहवें और बारहवें श्लोक मे श्रमण शब्द जैन या बौद्ध साधुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है। टीकाकारों ने बौद्ध भिक्षु अर्थ किया है। श्रमण शब्द जैन साधुओं के लिये भी लोक-प्रसिद्ध है। इस प्रकार के लेख होते हुए भी यदि कोई यह कहे कि रामायण मे जिकर नहीं है तो उसकी अपनी इच्छा है। न उसकी कोई जबान पकड़ सकता है और न लिखने वाले की लेखनी। महाभारत और रामायण का तो उत्तर हमने उनके पते सहित श्लोक लिखकर दे दिया अब वेदो से इस बात की परीक्षा करेंगे कि प्राचीन धर्म कौनसा है। तथा च इस देश का नाम अति प्राचीन काल से भारतवर्ष चला आ रहा है, इसको हम "भारत का आदि सम्राट" पुस्तक मे विस्तार पूर्वक सिद्ध कर चुके है।

वेदों में प्राचीन धर्म

अथर्ववेद काण्ड ७ सूक्त ५ इस प्रकार का है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि-धर्माणि प्रथमान्यासन।
तेहनाकं महिमानः सचन्तयत्र पूर्वे-साध्यासन्ति देवा॰

अर्थ—पूर्व समय में देवों ने (विद्वानों ने) यज्ञ से अर्थात् ज्ञान, समाधि अथवा मानस भावों से दर्शन, ज्ञान, चारित्र से यज्ञका आत्मा का यजन पूजन आदि आत्म प्राप्ति के उपाय किये। क्योंकि पूर्व समय का यही धर्म था। पूर्व समय मे भावपूजा को ही धर्म माना जाता था। उस ज्ञान यज्ञ की महिमा जहां देव रहते थे वहा तक पहुंच गई अर्थात् वह धर्म विश्व-व्यापी हो गया।

नोट—ज्ञान रूपेण यज्ञेन इति सायणः। यज्ञेन समाधिना, इति उव्वटः। समाधिः चरित्रम्। यज्ञेन मानसेन संकल्पेन, इति महीधरः। मानससंकल्पः श्रद्धा, दर्शनम्।

यही मन्त्र यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय मे भी आया है। वहां श्री स्वामीजी महाराज ने 'अयजन्त' का अर्थ पूजयन्ति अर्थात् पूजा का अर्थ पूजते है और "आसन" का अर्थ "सन्ति" अर्थात् 'थे' का अर्थ 'हैं' करके वेदों पर अत्याचार किया है। आगे मन्त्र दो मे लिखा है कि यह भावपूजा इतनी उन्नत हुई कि वह देवताओं की अधिपति हो गई। अर्थात् सब विद्वानो, त्यागियो ने उसे अपना एकमात्र धर्म मान लिया यह देख कर देवों तथा ब्राह्मणो ने यहा हवि रूप यज्ञ "द्रव्य यज्ञ" प्रचलित किया परन्तु फिर भी यहां ज्ञान यज्ञ ही प्रधान रहा।

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञ देवा अतन्वत।

इसके पश्चात् यहा—

मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोत,

मूर्ख देवो ने शुना, कुत्ते, गौ आदि पशुओं से यज्ञ करना आरम्भ कर दिया। कितना सुन्दर इतिहास है। यहां यह सिद्ध हो गया है कि पहले भावपूजा, ज्ञानयज्ञ, ज्ञानमार्ग या योगमार्ग प्रचलित हुआ। तत्पश्चात् द्रव्ययज्ञ, क्रियाकाड अर्थात् याज्ञिक धर्म, ब्राह्मण धर्म या वैदिक धर्म प्रचलित हुआ। परन्तु वह भी अहिंसा-प्रधान धर्म था अर्थात् सुगन्धि काष्ठादि औषधिया या "जौ" आदि अनाजों से यह यज्ञ किये जाते थे। पश्चात् मूर्खों ने यज्ञो मे पशु-बलि का विधान कर दिया इतिहास भी यही कहता है। महाभारत तथा जैन ग्रन्थो मे जो नारद और पर्वत की कथा है, वह इसी बात को पुष्ट करती है।

अब प्रश्न यह है कि ज्ञानयज्ञ अथवा दर्शन-ज्ञान, चारित्र रूप यज्ञ

का प्रवर्तक कौन था तथा इस धर्म का उस समय क्या नाम था ?

नोट—"यज्ञेन यज्ञम्" इसका भाष्य करते हुए मन्त्रों के सिलसिले (क्रम) में अनेक भूले बताई है।

योग-मार्ग

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३४९ में लिखा है कि—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य: पुरातनः

अर्थात्—योग मार्ग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ ऋषि हुये है। इससे पुराना मार्ग अन्य कोई नहीं है। वायु पुराण ४-७८ मे तथा श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५-१९-१३ मे भी यही कथन है। अभिप्राय यह है कि सपूर्ण वैदिक साहित्य इस विषय मे एक मत है कि सबसे पुरातन धर्म योगधर्म है और उस योगमार्ग का प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ ऋषि हुआ है। महाभारत के इसी हिरण्यगर्भो योगस्य' श्लोक को योग के पुरातन भाष्यकारों ने लिखा है तथा उन्होंने सिद्ध किया है।

योगमार्ग की प्राचीनता

ऋग्वेद मं० १ सू० १८ मे भी योग का कथन है।

यस्मादृते न सिद्धयति यज्ञो विपश्चितश्च न: सधीनां योगमिन्वति। ७।

अर्थात्-बिना योग के किसी भी विद्वान को आत्मप्राप्ति नहीं होती। यह मन्त्र योग की प्राचीनता को बताता है। इसी प्रकार अन्य वेदों मे भी योग का कथन है।

जब यह सिद्ध हो गया कि सबसे पुरातन योगमार्ग है और उसके प्रवर्तक हिरण्यगर्भ ऋषि हुए है तो स्वभावत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह हिरण्यगर्भ कौन थे तथा योग के क्या सिद्धान्त थे और उसका आचार धर्म क्या था। हिरण्यगर्भ के लिये महाभारत शान्ति पर्व अ० ३४२ मे लिखा है—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान य एष: छन्दसि स्तुत:।
योगै:सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभु: स्मृत:॥

अर्थात्—जिसने योगमार्ग चलाया तथा जिसको योगी जन पूजा करते है, सत्कार करते हैं, अपना धर्म गुरू मानते है, उसी की वेदों ने स्तुति की है तथा वही लोक में 'विभु' प्रसिद्ध है। 'स च लोके विभु स्मृत:' यह पद यहां देखने योग्य है। इस पद स वैदिक साहित्य का अनेक

उलझनें सुलझ जाती है। इसका स्पष्ट भाव है कि मुक्तात्माओं को ही 'विभु' कहते है। अस्तु, इसपर हम आगे लिखेंगे। यहां तो यही दिखाना है कि हिरण्यगर्भ ऋषि ने सबसे प्रथम योगमार्ग चलाया। वेदों मे उसकी स्तुति की है तथा लोगों ने उसको 'विभु परमात्मा' माना है।

हिरण्यगर्भ और वेद

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथ्वीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त ५ मण्डल ७

अर्थात्—पूर्व समय में हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण प्राणियों का एकमात्र पति (स्वामी) था उसने पृथ्वी (भारतवर्ष) द्यां द्यु लोक इलावर्त को धारण किया अर्थात् उनपर राज्य किया। वैदिक साहित्य में भारतवर्ष का नाम पृथ्वी है तथा इलावर्त उत्तरीय पर्वत श्रेणीका द्युः आदि है यह हम "भारत का आदि सम्राट" नामक पुस्तक मे विस्तारपूर्वक लिख चुके है। राजा पृथु के समय भारतवर्ष का नाम 'पृथ्वी' पडा।

हिरण्यगर्भ का अर्थ

ब्रह्मात्मभूः सुर श्रेष्ठः परमेष्ठी पितामहः।
हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्चतुराननः॥
—अमरकोष

अर्थात्–ब्रह्मा, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, स्वयम्भु, चतुरानन आदि सब नाम ब्रह्मा के है। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह ब्रह्मा आदि उपाधिवाचक नाम थे। यथा 'ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनां ऋषिविप्राणाम्'। यह ब्रह्मा देवो की, कवियों की और ऋषियों की पदवी है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जिस व्यक्ति ने योगमार्ग चलाया तथा जिसका वेदों मे वर्णन है उसका यह नाम नहीं था अपितु उसकी यह पदवी है।

वैदिक साहित्य ने यह तो बताया कि उसकी यह पदवी थी परन्तु उसने उसका असली नाम नहीं बताया। असली नाम जैनशास्त्र मे है और वह है 'श्री ऋषभदेव'। जैनशास्त्रानुसार ये ही योगमार्ग (मोक्षमार्ग) के आदि-प्रवर्तक हुए है। ब्रह्मा, आत्मभू लोकेश परमेष्ठी आदि

हजारों इनकी पदवियां थी। अर्थात् इनके यौगिक नाम थे। योगी श्री शुभचन्द्राचार्य जी ने अपने "ज्ञानार्णव" के आदि मे कहा है कि—

योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥

इसमे श्री ऋषभदेव जी का नाम, योगि-कल्पतरु, तथा वृषध्वज भी आया है। प्रत्येक जैनाचार्य ने ऋषभदेव जी को योगीश्वर तथा योग-मार्ग प्रवर्तक लिखा है। यही बात अजैन शास्त्रो में भी है। यथा—

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै।
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ॥

"हठयोग प्रदीपिका"

यह मंगलाचरण है। यह योग का एक प्रसिद्धतम शास्त्र है। अत: यह सिद्ध है कि योग-मार्ग जिसका नाम ही मोक्षमार्ग है उसके आदि-प्रवर्तक श्री आदिनाथ जी प्रथम तीर्थंकर हुये हैं।

यदि वर्तमान योगदर्शन तथा उसका व्यास भाष्य एवं अन्य योग-सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुशीलन किया जावे तो जैनधर्म और योगमार्ग मे बिन्दुमात्र भी अन्तर न पावेंगे। यही अवस्था उपनिषदों की है. उनमे जैनधर्म विषयक विशाल खजाना है।

परमहंसोपनिषद मे तथा नारद परिव्राजकोपनिषद मे परमहंसो का वर्णन है. वह जैन मुनियों से मिलता जुलता है। यह योगदर्शन और जैनदर्शन का कुछ मिलान करके उदाहरण देते हैं, जिससे वाचक इसकी सत्यता को भली प्रकार जान सकें।

दोनों दर्शनों में समता

योग शास्त्र

योगशास्त्र और जैनदर्शन का सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकार का है। १-शब्द का, २-विषय का, ३-प्रक्रिया का।

जैसे-१-भवप्रत्यय, २-सवितर्क, सविचार, निर्विचार, ३-महाव्रत, ४-कृतकारित—अनुमोदित, ५-प्रकाशावरण, ६-सोपक्रम, निरुपक्रम, ७-वज्रसहनन।

१-केवली, २-कुशल, ३-ज्ञानावरणीय कर्म, ४-सम्यग्ज्ञान, ५-सम्यग्दर्शन, ६-सर्वज्ञ, ७-क्षीणक्लेश, ८-चरमदेह आदि।

जैनशास्त्र

"भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्"
योग सू० १-१६

"भवप्रत्ययोवधिर्देवनारकाणां"
तत्वार्थ अ० १-२१

२-ध्यान विशेष अर्थमें ही जैन शास्त्र मे सवितर्क वीचार, अवीचार इस प्रकार है—

"एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे"
(तत्वार्थ) अ० ६-४२

अवीचार द्वितीयम्
तत्वार्थ अ० ६-४३

योग सूत्र में यह शब्द इस इस प्रकार आये हैं—

तत्र शब्दार्थ—ज्ञान—विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्र-निर्भासा निर्वितर्का। एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्म—विषया व्याख्याता॥ १-४२, ४३, ४४

३-जैनशास्त्र में मुनि सम्बन्धी पांच यमों के लिये 'महाव्रत' बहुत ही प्रसिद्ध है।

४-ये शब्द योगसूत्रमें प्रयुक्त हैं।

५-योग सूत्र में हैं।

६-ये शब्द योगसूत्र और जैन-साहित्य में भी हैं।

७-यह शब्द जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। (तत्वार्थ अ० ८-१२)

योगशास्त्र	जैनशास्त्र
—२—	—२—
६-प्रसुप्ततनु आदि क्लेशावस्था, १०-पांचयम।	(६) प्रसुप्ततनु विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्थाओं का वर्णन योग सूत्र २-४।
	(१०) पांच यमों का वर्णन महाभारतादि ग्रन्थों में मिलता है। योग सूत्र २-३१ में है और जैनशास्त्रों में भी आता है।
१ योगजन्य विभूति, २ सोपक्रम निरुपक्रम कर्म का स्वरूप तथा उसके दृष्टान्त, अनेक कार्यों का निर्माण आदि।	(१) योगसूत्र के तीसरे पाद में विभूतियों का वर्णन आता है और जैनशास्त्र में भी देखो—आवश्यक निर्युक्ति। गाथा ६७-७०।
	(२) योगभाष्य और जैन ग्रन्थों में सोपक्रम निरुपक्रम और आयुष्कर्म का स्वरूप एकसा है।
	(१) योगबल से योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है। वर्णन योग सूत्र ४-४ में है। यही विषय वैक्रिय-आहार-लब्धि रूप से जैन ग्रन्थों में वर्णित है।
—३—	—३—
१-परिणामि-नित्यता अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूपसे त्रिरूप वस्तु मान कर तदनुसार धर्म धर्मीका विवेचन इत्यादि।	(१) जैनशास्त्रों में वस्तु को द्रव्य पर्याय स्वरूप माना है। इसीलिए उसका लक्षण तत्वार्थ (अ० ५-२६) में "उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ऐसा किया है।
२-इसी विचार से समता के कारण श्रीमान हरिभद्र जैसे जैनाचार्यों ने महर्षि पतञ्जलिके प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट किया है। और जगह जगह पतञ्जलि के योग शास्त्रगत	योग सूत्र ३-१३-१४) में जो धर्म धर्मी का विचार है वह उक्त द्रव्य पर्याय उभय-रूपता किंवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य इस त्रिरूपता का ही

योग शास्त्र	जैनशास्त्र
सांकेतिक शब्दों का जैन संकेतों के साथ मिलान किया है ।	चित्रण है ।
३-जैन विद्वान यशोविजय वाचक ने पतञ्जलि के योगसूत्र को जैन प्रक्रिया के अनुसार समझाने का मार्मिक प्रयास किया है । ४-अपनी बत्तीसियों में उन्होने पतञ्जली के योगसूत्र गत कुछ विषयों पर खास बत्तीसियां भी रची हैं ।	(१) उक्तं च-योगमार्गज्ञैस्तमो निर्धूतकल्मषैः । भावियोगहितायोच्चै- र्मोहदीपसमं वचः ॥ ऐसा ही भाव श्री यशोविजयजी ने अपनी योगावतार द्वात्रिंशिका में प्रकाशित किया है । देखो श्लोक २० टीका । (२) देखो योगविन्दु श्लोक ४१८-४२० (३) देखो उनकी बनाई हुई पातञ्जल सूत्रवृत्ति । (४) देखो पातञ्जल योग लक्षण विचार, ईशानुग्रह विचार, योगावतार, क्लेशहानोपाय और योग माहात्म्य द्वात्रिंशिका ।

कहां तक लिखें यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो जैनशास्त्र और योग शास्त्र का पूरा पूरा मिलान हो सकता है । हम यहां विस्तार भय से अधिक नहीं लिखते । जो स्वाध्याय-प्रेमी इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहें वे प्रसिद्ध विद्वान श्रीमान मान्यवर, साहित्यरत्न, उपाध्याय आत्माराम जी महाराज की "जैनागमों में अष्टाग योग" नामक पुस्तक का अवलोकन करें तथा श्रीमान प० सुखलाल जी द्वारा अनुवादित "योगविंशका" का अध्ययन करें ।

हमारे लिखने का अभिप्राय इतना ही है कि वेद, महाभारत, उपनिषद, गीता आदि अजैन शास्त्र तथा सम्पूर्ण जैन साहित्य इस बात मे सम्मत हैं कि विश्व मे सबसे प्रथम अहिंसाधर्म अर्थात् ज्ञानयज्ञ या योग-मार्ग प्रचलित हुआ और उसके प्रवर्तक थे श्री ऋषभदेव जी । वेदों मे उनका नाम,, "व्रात्य" शब्द में भी आया है । आगे हम वैदिक साहित्य

से श्री ऋषभ "वृषभदेव" जी विषयक प्रमाण उपस्थित करते हैं। ताकि जनता में जैनधर्म के विषय में जो भ्रम फैल रहा है वह दूर हो सके।

योगमार्ग और जैनधर्म

जिस योगमार्ग का प्रचार हिरण्यगर्भ (ऋषभदेव) ने किया था वह योगमार्ग तो महाभारत से पहिले ही नष्ट-प्राय हो गया था, जैसा कि गीता में कहा है कि—

स चायं दीर्घकालेन योगो नष्टः परंतप।

हे अर्जुन ! वह पुरातन योग तो बहुत पहिले ही नष्ट हो चुका है। उस योग में और साख्य मे कुछ भेद न था। जैसा कि गीता मे कहा है।

"सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डितः ॥"

अर्थात् उनकी मुख्य मुख्य बातें समान थीं। सांख्यदर्शन अनीश्वरवादी था यह प्रसिद्ध ही है। गीता रहस्य मे सांख्यतत्व कौमुदी का पुरातन श्लोक लिखा है जो नवीन पुस्तकों मे नहीं है। यथा—

"कारणमीश्वरमित्येके ब्रुवते कालं परे स्वभाव वा।
प्रजा कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च"।

इस श्लोक में ईश्वर, काल स्वभाव तीनों कारणों का खण्डन किया है। यही नहीं अपितु सांख्य-वादियोंने सन्यास का भी खण्डन किया है। यथा—

त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षे ज्ञानेन कस्यचित्।
छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ६२०-४२ श्लो०

अर्थात्-सांख्यवादी कहता है कि यदि त्रिदण्डादि धारण से(सन्यास लेने से) मुक्ति होती है तो राजाओं की भी मुक्ति होनी चाहिये क्योंकि वे छत्र आदि धारण करते हैं। परिग्रह धारण मे दोनो समान हैं। अतः बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। यही नही अपितु महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३०० में सांख्य वादियो ने ईश्वर विषयक शास्त्रार्थ भी किया था, यह लेख है। सांख्य का अनीश्वरवादी होना सिद्ध है।

योग और ईश्वर

अब प्रश्न यह है कि जो सेश्वर सांख्य कहलाता है उस योग के

ईश्वर का क्या रूप है। इसका उत्तर स्वयं महाभारतकार देते हैं—

बुद्ध' प्रतिबुद्धत्वाद-बुद्धमानं च तत्वतः।
बुद्धमान च बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम् ॥
महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३०८-४८

अर्थात्—योगदर्शन का ईश्वर बोध स्वरूप हैं, परन्तु वह अज्ञान जीवदशा को प्राप्त हो रहा है।

अभिप्राय यह है कि योग की परिभाषा में दो पदार्थ हैं, एक बुद्ध, दूसरा बुद्ध्यमान। बुद्ध परमात्मा तथा बुद्ध्यमान जीवात्मा बुद्ध्यमान के 'बुद्ध' हो जाने को ही योग सिद्धान्त कहते हैं, जीवात्मा से परमात्मा होना यही योग का फल है। आगे इसको और भी स्पष्ट करते हैं—

यदा स केवलीभूत' षड्विंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद् विद्वान पुनर्जन्म न विद्यते ॥
महाभारत शान्ति पर्व अध्याय ३१६

अर्थात्—जब वह जीवात्मा सम्पूर्ण कर्मों के बन्धन से छूटकर "केवली" निर्मल' मुक्त हो जाता है तो वह सर्वज्ञ (ईश्वर) हो जाता है फिर उसका जन्म आदि नहीं होता। वह सर्वज्ञ सम्पूर्ण पदार्थों को तथा उनकी सम्पूर्ण अवस्थाओं को प्रत्यक्ष देखता है।

यहां जैन दर्शन का जीवात्मासे परमात्मा बनना तथा उसका सर्वज्ञ होना ही सिद्ध नहीं है अपितु उसके "केवली" आदि पारिभाषिक शब्दों की भी समानता है। इसी बात को पं० जयचन्द जी विद्यालंकार (गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक) ने 'भारतीय इतिहास की रूप रेखा' मे स्वीकार किया है। आप लिखते हैं कि "योग का ईश्वर, बुद्ध, महावीर, कृष्ण अथवा राम के समान मुक्तात्मा ही है।" वैदिक सिद्धान्त भी मुक्तात्मा को ही ईश्वर मानता है। स्वामी जी का ईश्वर तो उनकी अपनी कल्पना मात्र है। इस पर विशेष प्रकाश यथास्थान डालेंगे। परन्तु एक प्रमाण यहां और भी देते है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्ध' पापविद्धम। कविर्मनीषी परिभूस्स्वयंभूर्याथा तथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
यजुर्वेद अध्याय ४०-८

इस मन्त्र का भाष्य करते हुए श्री स्वामी जी ने "स" इसका अर्थ

'ईश्वर' किया है जो कि सर्वथा असंगत है। क्योंकि इससे पूर्व मन्त्र ६ में आया है कि—

" यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्निवानुपश्यति।"

अर्थात्—जो सब भूतों (प्राणिमात्र) को अपनी आत्मा के समान देखता है वह भय, शंका आदि रहित हो जाता है। यहां श्री स्वामी जी ने भी यही अर्थ किया है केवल एक स्थानपर आत्मा का अर्थ 'ईश्वर' किया है। बस, यह विद्वान योगी इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है। उसी मुक्त अवस्था का वर्णन मं० ८ मे किया है। अत: यहां 'स' का अर्थ परमात्मा करना वेद-विरूद्ध एवं असगत है।

आगे शुक्रं, अकायं अव्रणं, अस्नाविरम्, शुद्धम, पापविरुद्धम् आदि जो कर्म थे उनको 'स' कर्ता का विशेषण बना दिया तथा 'शाश्वती-भ्य: समाभ्य:' यहां "समा" का अर्थ प्रजा कर दिया। जो कि निरुक्त, व्याकरण, कोष आदि सबके विरुद्ध है। निरुक्त—"समाना सवत्सराणां मास आकृति:॥" निरुक्त ११-५। यहां समा का अर्थ संवत्सर किया है।

इसी प्रकार अष्टाध्यायी मे—

समां समा विजायते ॥५-२-१२॥

यहां समां समां का अर्थ प्रतिवर्ष किया है।

अमरकोष में संवत्सर के नामो में 'समा:' नाम भी है। इसी प्रकार पद्मचन्द्र कोष आदि सम्पूर्ण कोषों मे 'समा:' का अर्थ वर्ष किया है अत: स्वामी जी का अथ वेद, निरुक्त, व्याकरण कोषादि के सर्वथा विरुद्ध है। सम्पूर्ण भाष्य इसी प्रकार की भूलों से भरा हुआ है।

सत्यार्थ यह है कि "वह योगी (समदर्शी) सदा रहने वाली मुक्ति को प्राप्त करके शुक्र, शुद्ध आदि अवस्था को प्राप्त होकर ईश्वर बन जाता है।" यही अर्थ प्राचीन वेद भाष्यकार ऋषि, मुनि वा आचार्योंका है। यही वैदिक सिद्धान्त है, इसी का प्रचार इस वर्तमान युग मे सर्व प्रथम भगवान ऋषभदेव ने किया। ●

वेद और ऋषभदेव

वेदाहमेतं पुरुषं महांतमादित्यवर्णं तमस: पुरस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यते अयनाय॥

यजुर्वेद अध्याय ३१ म० १८

यज्ञेन यज्ञमयजन्त" यह जो मन्त्र हम पहले लिख आये हैं वह यजुर्वेद अध्याय ३१ में भी है, उसका वह १६ वां मन्त्र है, उसके बाद यह "वेदाहमेतं" मन्त्र अठारहवां है। उसमें उस ज्ञानयज्ञ या भावयज्ञ अथवा योगमार्ग के प्रवर्तक का कथन किया है। इसमें कहा है कि "मैंने महापुरुष को जाना है जो अन्धकारादि से पृथक है तथा आदित्य स्वरूप है। उसी को जानकर जीव मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। मुक्ति प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसकी तुलना के लिये हम एक जैनशास्त्र का श्लोक लिख देते हैं।

त्वामामनन्ति मुनय: परमं पुमांस-मादित्यवर्णममल तमस: पुरस्तात।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं नान्य: शिव: शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्था:

भक्तामर स्तोत्र

उपरोक्त वेदमन्त्र तथा यह भक्तामर का श्लोक शब्दश: तथा आर्थिक दृष्टि से एक ही है। अर्थात् न तो इनमें शब्दों का कुछ विशेष अन्तर है और न अर्थ की दृष्टि से बिलकुल अन्तर है। यह श्लोक श्री ऋषभदेव जी की स्तुति में कहा गया है। अत: यह सिद्ध हो गया कि इस ज्ञानयज्ञ योग मार्ग के आदि प्रवर्तक 'श्री ऋषभदेव जी' हैं।

श्री ऋषभदेव के वर्णन से वैदिक साहित्य भरा हुआ है। हम एक दो प्रमाण और लिखकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विनाहुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्त मोज:॥

अथर्ववेद कांड १६-४२-४

अर्थ—अहस्-पाप का नाम है, अत: 'अहोमुचं' का अर्थ हुआ 'सम्पूर्ण पापों से मुक्त'। "अध्वरम्" कहते हैं हिंसा को तथा जो हिंसक है उनको भी "ध्वर" कहते हैं, 'अ' यह निषेधात्मक है। अत: 'अध्वरम्' का अर्थ हुआ कि 'अहिंसक' यज्ञियानां (पूर्वोक्त मन्त्रानुसार) ज्ञानियों के प्रथमं विराजन्तम्—प्रथम राजा या प्रथम पथ-प्रदर्शक। उन्होंने मुझे (संसार सागर में डूबते हुये को) बल प्रदान किया है। हे अश्विनौ! इस लिये मैं उनकी स्तुति करता हूं।

वेद में भी श्री ऋषभदेव को प्रथम राजा व प्रथम पथ-प्रदर्शक लिखा है। इसी प्रकार जैन शास्त्रों में भी श्री ऋषभदेव जी को प्रथम तीर्थंकर, प्रथम राजा, प्रथम योगी, प्रथम मुनि, आदिनाथ, आदीश्वर आदि लिखा है।

व्रात्य

व्रात्य के विषयमें भारत के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् "शंकर पाण्डुरंग ने अथर्व वेद की भूमिका में लिखा है कि-"अधिकारी व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वर्चसो मूलम्" किं बहुना व्रात्यो देवाधिदेव एवेति प्रतिपाद्यते। न पुनरेवत् सर्वं व्रात्यपरं प्रतिपादनम्। अपितु कश्चिद् विद्वत्तं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्व-आत्मम्यकर्मपरे ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।"

अर्थात्—यहां किसी साधारण व्रात्य को लक्ष्य करके यह वचन नहीं कहा गया है अपितु यह व्रात्य महान अधिकारी और ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के तेज का मूल कारण तथा देवाधिदेव है, वह पुण्य—शील एवं आत्मकर्म-परायण, ब्राह्मणों ने जिसके साथ द्वेष किया है उस व्रात्य को लक्ष्य करके यहां यह सूक्त कहा गया है।

प० जयदेव जी विद्यालङ्कार ने भी अपने अथर्ववेद भाष्यकी भूमिका में यों लिखा है कि—

"व्रात्य वे हैं जो व्रात्याका प्रवास करते है। व्रात्या का प्रवास करना, अर्थात् व्रत पालन के लिये अपने गृह का त्यागकर परदेश (वनादि) मे चले जाना 'व्रात्य का प्रवास करना' कहा जाता है। उपनिषदों में व्रात्या प्रवास, व्रात्या, व्राज्या, व्रात्या, परिव्रज्या शब्दो मे परिवर्तित हो गया प्रतीत होता है।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनादि वा गृहाद् वा।

परन्तु पूर्व का वैदिक शब्द "व्रात्य" अवश्य उस विद्वान व्रतपति के लिये प्रयुक्त होता था, जो अपने अनुभव, आयु और योगाभ्यास द्वारा आत्म-साधना करता हुआ संघ को साथ लिये हुये प्रवासार्थ लोकभ्रमण किया करता होगा। अथर्व वेद कांड ७-७२-२ में उसी को प्रजापति कहा प्रतीत होता है।

तथा च अथर्व वेद के एक मन्त्र मे है कि—
द्वादश वा एता रात्री व्रात्या आहु: प्रजापतिः।
तत्रोपब्रह्मयोर्वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥४-११-११॥

अर्थात्—प्रजापति ने १२ रात्रियों (तपों) को व्रत्य कहा है, जो

क्योंकि इन व्रत्यों (व्रतों) का पालन करता है वह उस ब्रह्म (आत्मा) को जानता है। यह अनडुह (वृषभ) व्रत कहलाता है।

यहां रात्रि के अर्थ तप के हैं, जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है, "अन्धो वा रात्रि" ताण्ड्य ब्राह्मण ६-१-७ अर्थात्—"अन्धस्" और "रात्रि" ये दोनों समानार्थक हैं। तथा च शतपथ ब्राह्मण में लिखा हुआ है कि—

"अन्धस्तप इति" ६-१-१-२४

यहां "अन्धस्" और तप को पर्यायवाची कहा है। अत: उपरोक्त मन्त्र में रात्रि के अर्थ तप के हैं यह सिद्ध हो जाता है। वह तप १२ का बतलाया गया है। अर्थात् ६ प्रकार का आन्तरिक तप तथा ६ प्रकार का बाह्य तप। इस प्रकार जैन मुनियों को १२ प्रकार का तप करना परमावश्यक है। इन्हीं तपों से वह कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अत: वेद में इन १२ व्रतों का नाम "व्रत्य" कहा है, तथा जो इनको धारण करता है उसका नाम वेद में "व्रात्य" कहा है। उसी "व्रात्य" का कथन अथर्ववेद के १५ वें काण्ड में है। उपरोक्त प्रमाणों से भी उस "व्रात्य" का जैनाचार्य होना सिद्ध होता है। इससे जैनधर्म की प्राचीनता अनायास सिद्ध हो जाती है।

"वैदिक व्रात्य और भगवान महावीर"

अथर्व वेद के पन्द्रहवें कांड में एक व्रात्य सूक्त है जो कि पहेली बन गया है। विद्वानों ने इस पहेली को सुलझाने का प्रयत्न किया, परन्तु यह सुलझने के बजाय उलझती ही गई। अभी हाल में ओझा जी को जो अभिनन्दन ग्रन्थ दिया गया है, उसमें जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान डा० हबर-टस् विगेन ने इसपर एक गवेषणात्मक लेख लिखा है। आपका कथन है कि—

(१) ध्यानपूर्वक निरन्तर दीर्घ काल तक विवेचन के बाद मैं यह कह सकता हूं कि यह प्रबन्ध (व्रात्य सूक्त) प्राचीन भारत के ब्राह्मणेतर आर्यधर्म के मानने वाले व्रात्यों के उस वाङ्मय का कीमती अवशेष है जो प्राय: चुन चुनकर नष्ट किया जा चुका है।

(२) जैमिनीय उप ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि "व्रात्य" लोग ऊर्ध्वलोक में स्थित तथा यज्ञादि की हिंसा से घृणा करने वाले और "ओ३म्" इस अक्षर का गूढ़ ज्ञान भी रखते थे।

(३) योग और सांख्य के मूल तत्वों का यही आधार या आदि स्रोत है

(४) अथर्ववेद का व्रात्य एक वर्ष तक खड़ा रहकर घोर तप करता है और चारों दिशाओं की तरफ उन्मत्तवत् मौन भावसे भ्रमण करता है।

(५) वह सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा और जीवन-मुक्त समझा जाता है। इत्यादि... ... . ।

इस वैदिक व्रात्य के साथ यदि भगवान ऋषभदेव और बाहुबलि स्वामी के जीवन का मिलान किया जाय तो देखेंगे कि इनमे कुछ भी अंतर नहीं है। भगवान ऋषभदेव ने छह महीने तक निश्चल खड़े रह कर खड्गासन से तप किया और छह महीने तक भ्रमण करते हुए भी मौन निराहार रहे। इस प्रकार इन्हा ने एक वर्ष तक निराहार रहकर घोर तप किया और बाहुबलि ने तो एक वर्ष तक एक ही स्थान मे निरन्तर पवत-वन्निश्चल खड़े रहकर घोर तप किया है। इसी लिये इनका नाम व्रती अर्थात् व्रात्य पड़ जाना मालूम पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि यह व्रात्य सूक्त जैनधर्म की परम्परा का ही परिचायक है।

जैनधर्म भगवान ऋषभदेव से लगाकर आज तक अहिसा को ही परम धर्म मानता आया है और निरर्थक वैदिक क्रिया कांडो का निषेध करता रहा है। अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त ११ मन्त्र ११ मे व्रत का पर्याय-वाची "व्रत्य" आया है उसी व्रत्य से "व्रात्य" शब्द बना है, अर्थात् व्रत्य (व्रत) को धारण करने वाला।

ताण्ड ब्राह्मण १७-१-५ मे "व्रातः" शब्द आया है जिसका अर्थ सुप्रसिद्ध वैदिक भाष्यकार सायणाचार्य ने 'व्रत्य समुदाय किया है" इससे भी व्रात और व्रात्य समानार्थक सिद्ध होते हैं जिसका अर्थ व्रती (दीक्षित) होता है।

अथर्ववेद के इसी चतुर्थकांड के इसी मन्त्रमें इसको 'मागध विज्ञान' कहा गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्रात्य लोग मगधादि देशों के रहने वाले थे और इनकी संस्कृति 'मागध संस्कृति' के नाम से प्रसिद्ध थी, जो कि वैदिक क्रिया कांडकी प्रत्यक्ष विरोधिनी थी। यही कारण है कि— वैदिक साहित्यमें मगधादि देशोकी निन्दा की गई है।

प्रश्नोपनिषद् मे मुक्तात्मा (परमात्मा) को व्रात्य कहा गया है, इससे भी हमारे उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है।

सामवेदीय ताण्ड ब्राह्मण में एक "व्रात्य स्तोम" है जिसमें व्रात्यों का विशेष उल्लेख आया है। उसमें लिखा है कि 'यह वैदिक यज्ञादि से घृणा करते थे तथा अहिंसा को ही अपना मुख्य धर्म मानते थे'। इनके रहन सहन के विषय में लिखा है कि—'यह लोग ढीले ढाले लाल किनारे वाले कपड़े पहनते थे तथा ब्राह्मणों से पृथक भाषा बोलते और ब्राह्मणों की भाषा को क्लिष्ट बताते थे और खुले हुये युद्ध के रथों पर सवारी करते थे भाला धनुष आदि हथियार रखते थे"।

इस कथन से इनका क्षत्रिय होना प्रकट होता है। वहां इनके आश्रित भृत्यादियों का भी कथन है जिससे विदित होता है कि ये लोग अपने आश्रितों को बड़ा खुशहाल रखते थे। इनके भृत्यादि खूब जेवर आदि पहनते थे और हृष्ट पुष्ट होते थे।

(ताण्ड ब्राह्मण १७-१-५)

प्राचीन भारतीय सभ्यता के इतिहास में बाबू रमेशचन्द्रदत्त जी ने लिच्छवी लोगों का वर्णन किया है और लिखा है कि "जब भगवानबुद्ध वैशाली मे गये तो लिच्छवी लोग अपनी प्रजा व सैनिकों सहित उनके दर्शन को गये जिनमें से कुछ काले थे जो काले कपड़े पहनते थे कुछ भूरे थे वे भूरे वस्त्र पहिने हुये थे और जो लाल रंग के थे वे लाल कपड़े अथवा लाल कनारी की धोतियां पहिने हुये थे"। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय रंग के अनुरूप जातियां थीं और प्रत्येक जातिके लिये अलग-२ रंग के वस्त्र आभूषण नियत थे। इनमे लाल रंग के क्षत्रिय थे वे या तो लाल रंग के वस्त्र पहनते थे या लाल किनारे की धोती बांधते थे। जिस प्रकार ताण्ड ब्राह्मणमे व्रात्योंका वर्णन है हूबहू वैसा ही कथन लिच्छवियों का रमेशचन्द्र जी ने किया है।

भारतीय इतिहास की रूपरेखा के पृ० ३४६ मे प्रो० जयचन्द्र जी विद्यालंकार ने लिखा है कि "इस बात का निश्चित प्रमाण है कि वैदिक मार्ग से भिन्न मार्ग कुछ और महावीर से पहले भी यहां थे। इन अर्हतों के अनुयायी व्रात्य कहलाते थे। जिनका उल्लेख अथर्ववेद में है। लिच्छवि लोग प्राचीन भारत की एक प्रसिद्ध व्रात्य जाति के थे।

इसी लिच्छवि वंशमें भगवान महावीर ने अवतार लिया था लिच्छवि वंशकी ही एक शाखा ज्ञातृवंश थी।

इसी से भगवान महावीर को 'ज्ञातृपुत्र' (नात्तपुत्र) कहते हैं।

जैन सिद्धान्त

सत्यार्थप्रकाश पृ० ४२४ से लेकर ४२५ तकमें जैनियों के तत्वों का वर्णन है। लिखा है कि यहां से आगे जैन मत का वर्णन है।

"प्रकरण रत्नाकर" प्रथमभाग, नयचक्रसारमे निम्नलिखित बाते लिखी हैं। बौद्ध लोग समय समयमे नवीनपन से (१) आकाश, (२) काल, (३) जीव, '(४) पुद्‌गल, ये चार द्रव्य मानते है। और जैनी लोग धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और काल, इनमे 'काल' को आस्तिकाय नहीं मानते। किन्तु ऐसा कहते हैं कि काल उपचार से द्रव्य है वस्तुत: नहीं।' आदि...

इसपर आपने समीक्षा लिखी है कि जैनियों का मानना भी ठीक नहीं क्योंकि धर्माधर्म द्रव्य नहीं किन्तु गुण है। आगे आप लिखते हैं कि जो वैशेषिक मानते है वे ही ठीक है। आदि—

उत्तर—इस लेखक ने अपनी सारी आयु मे एक भी बौद्ध वा जैन ग्रन्थ देखा हो ऐसा इस लेख से प्रतीत नहीं होता है। बिना किसी क सिद्धान्त को जाने इस प्रकार खण्डन करना तो किसी को भी शोभा नहीं देता।

बौद्धों के विषय मे तो इतना ही कह देते है कि सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का सार तीन बातों में है, (१) अनित्यवाद, (२) दुःखवाद (३) अनात्मवाद।

बौद्धों के यहां जीव का नाम ही पुद्गल है। अब आप समझ सकते हैं कि सत्यार्थप्रकाशमें क्या खण्डन किया है। ऐसाही अन्य जगह भी है। हम विस्तार भयके कारण बौद्धधर्म के विषय में कुछ नहीं लिखते।

रहगया जैनियों का प्रश्न उसके लिये हमारा यह नम्र निवेदन है कि आपको उचित था कि किसी जैन विद्वान् से इस विषय में कुछ लिख कर अथवा पूछकर जान लेते पुनः उस पर कलम चलाते। बिना जाने, बिना समझे आपने इस प्रकार बे-सिर पैर की बातें लिखकर बड़ीभारी भूल की है।

प्रकरण रत्नाकर तथा नयचक्रसार जिनका आपने नाम लिखा है यद्यपि कोई भी जैन व्यक्ति (चाहे वह किसी भी संप्रदाय का है) इन ग्रन्थों को नहीं मानता, परन्तु दुःख है कि उनमें भी कहीं यह नहीं लिखा कि काल उपचार से द्रव्य है वास्तव में नहीं। सम्भव है इसी लिये ' ऐसा कहते हैं ' यह लिखने की कृपा की है। परन्तु आपने यह नहीं लिखा कि कौन कहते हैं। अस्तु, मैं आपको यह बता देता हूं कि जैन दर्शन दो प्रकार का काल मानता है एक द्रव्यकाल दूसरा व्यवहार काल। द्रव्यकाल परमाणुरूपसे रत्न राशियोंकी तरह सर्वत्र फैल रहा है। क्योंकि यह परमाणु रूप है इसलिये इसे अस्तिकाय नहीं मानते। आपको अस्तिकाय ने भ्रम में डाल दिया। यदि 'काय' शब्द पर ध्यान देते तो आपको यह भ्रम न होता।

अस्तिकाय

अस्तिकाय जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है अनेक प्रदेशों वाला।

प्रदेश

प्रदेश भी पारिभाषिक शब्द है। जिस पुद्गल का अन्य टुकड़ा न हो सके उसको परमाणु कहते हैं। एक परमाणु जितने स्थान को घेरता है उस स्थान का नाम 'प्रदेश' है। जो पदार्थ बहुत प्रदेशों को घेरता है अर्थात् बहुत जगह में आता हो उसको 'अस्तिकाय' कहते हैं। जो पदार्थ एक एक प्रदेश में अलग अलग पड़ा हो उसे अनस्तिकाय अर्थात् 'अस्तिकाय नहीं है' ऐसा कहते हैं। परन्तु दोनो पदार्थ द्रव्यत्व में समान हैं।

दूसरा है व्यवहार काल, जिसको 'समय' कहते हैं। यह काल द्रव्यकाल का ही पर्याय है। अतः यह कहना कि 'काल' उपचार से द्रव्य है यह बिल्कुल मिथ्या है।

धर्म और अधर्म

इसी प्रकार धर्म्म अधर्म्म शब्द भी यहां पारिभाषिक हैं, उसको न समझ कर आपने लिख दिया है कि 'यह द्रव्य नहीं हैं अपितु गुण हैं'। यहां आपने पाप वा पुण्यवाची धर्म्म, अधर्म्म शब्द को समझ कर बड़ी भूल की है। वास्तव में यह दोनों पृथक् पृथक् दो द्रव्य हैं।

आगे आप लिखते हैं कि 'यह दोनों जीवास्तिकायमें आ जाते हैं'। उत्तर—आपने तो एक ही पंक्ति मे आगे लिखा है कि 'वैशेषिक मानते हैं वे ही पदार्थ ठीक हैं। फिर आपने स्वयं उनके नाम भी गिन दिये हैं। फिर आपका यह कहना कि 'यह गुण हैं अत: जीवास्तिकाय में आ जाते हैं' यह तो यही सिद्ध करता है कि इस लेखक महोदयने तो वैशेषिक दर्शन देखा भी नहीं वह तो द्रव्य और गुण को पृथक् २ पदार्थ मानता है और आप गुण और द्रव्य को एक मान रहे हैं। आप स्वयं ही अपनी बात का खण्डन कर रहे हैं।

रह गया वैशेषिक दर्शन की मान्यता का प्रश्न। उसका तो यदि जैनन्याय ग्रन्थोंके सिवाय श्रीशंकराचाय, श्री रामानुजाचार्यजी व माध्वाचार्य आदि द्वारा किया हुआ वेदान्त मे भी जो इन पदार्थों का खण्डन है उसे देख लेते तो आप ऐसा लिखने का कभी साहस न करते।

आगे आपने लिखा है कि "और जो नव द्रव्य वैशेषिक ने माने हैं वे ही ठीक हैं। क्योंकि पृथिव्यादि पाच तत्व, काल, दिशा, आत्मा, और मन, यह नव पृथक् २ पदार्थ हैं। एक जीवको चेतन मानकर ईश्वर को न मानना यह जैनबौद्धों की मिथ्या पक्षपात की बात है।"

उत्तर—मालूम नहीं कि इस लेखक ने किस गुरु से यह दर्शन पढ़ा था, जिसने इतना बताने की कृपा नहीं की कि वैशेषिक नव पदार्थ नहीं मानता अपितु ६ पदार्थ मानता है।

सम्भव है इन्हों ने द्रव्य और पदार्थ का एक ही अर्थ समझा हो। यदि ऐसा है तो दार्शनिक-अनभिज्ञता की पराकाष्ठा है। हम नहीं समझते कि यह लेख किस अवस्था में लिखा गया है। अस्तु—

यहां प्रश्न यह है कि इन द्रव्यों का (जो वैशेषिक दर्शन मे हे) नियामक क्या है तथाच जो इस दर्शन में ६ पदार्थ माने गये हैं उनका भी नियामक क्या है? अर्थात् यह पदार्थ न्यूनाधिक नहीं हो सकते इस मे

क्या प्रमाण है। तथाच जब मन को द्रव्य माना तो बुद्धि में क्या दोष था जो उसको तिलाञ्जलि दे दी। तथा यह नियम है कि स्वतन्त्र पदार्थ किसी के आश्रित नहीं होता परन्तु कणाद ने गुण और कर्म की स्वतन्त्र सत्ता मानकर भी उन्हें द्रव्यके आधीन कर दिया। जातिकी कल्पना भी एक अनोखी सूझ है। वैशेषिक दर्शनकार कणाद पर श्रीमान पं० अशोक ने एक ताना कसा है। आप लिखते हैं कि पांच अगुलियों से पृथक् सामान्य रूप से जो व्यक्ति छठे पदार्थ का भी अस्तित्व बताता है उसे अपने सिरपर सींगों का भी सद्भाव मानना चाहिये।

पांचतत्त्व

अनुमान पांच या छः वर्ष हुए जब काशी विश्वविद्यालय में पंचभूत परिषद् हुई थी, उस में नवीन वैज्ञानिकों को भी निमन्त्रण दिया गया था। वैज्ञानिको ने कहा कि 'आप लोग सबसे पूर्व भूत का लक्षण करें।' इस पर वैदिक दार्शनिकोंने पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल, आकाश को मूल-पदार्थ बताया। वैज्ञानिकों ने इसका जोरदार खंडन किया और कहा कि, ये मूल पदार्थ नहीं हैं।

आप हमे जल के परमाणु दे दें हम उनकी आग, हवा आदि बना देंगे। इसी प्रकार आग के परमाणुओं को जल आदि, इसी तरह अन्य परमाणुओं से भी। वास्तव में जलादि सब पदार्थ आक्सिजन आदि गैसों के संमिश्रण से बने है।

पानी का एक अणु तथा अग्नि आदि के अणु किस प्रकार बनते हैं यह देखना हो तो किसी कालेज मे जाकर देख सकते हैं। अथवा विश्वभारती आदि वैज्ञानिक पुस्तकें देखकर अपना भ्रम दूर कर लेवें।

अवैदिक है

जहा पचभूत कल्पना यह वर्तमान विज्ञान के विरुद्ध है वहां यह वैदिक साहित्य से भी सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि वेदों मे तथा ब्राह्मण उपनिषदादि मे कहीं भी इनको मूल पदार्थ नहीं माना अपितु इनको अनित्य (बना हुआ) माना है यथा—

"आत्मन: आकाश: सम्भूतः, आकाशाद् वायु" इस वैदिक वाक्य मे स्पष्ट सब पदार्थों की एक आत्मा से उत्पत्ति लिखी है। वेदान्त, सांख्य, योग, मीमांसा, आदि दर्शनों ने तथा बौद्ध और जैन शास्त्रोंने इस

मान्यता का भयानक खंडन किया है। वास्तव में यह भारतीय मान्यता नहीं है यह तो यूनान से आई हुई सौगात है। अतः वैशेषिककी मान्यता को स्वीकार करना वेद, विज्ञान और भारतीयता को तिलांजलि देना है। रह गया ईश्वर का प्रश्न, सो यथास्थान उसपर लिखेंगे।

क्या शब्द आकाश का गुण है?

इस वैज्ञानिक युगमें शब्द को आकाश का गुण मानना भी अपने हठ धर्म का परिचय देना है। रेडियो तथा फोनोग्राफ व सिनेमा ने यह सिद्ध कर दिया है कि शब्द गुण नहीं अपितु प्राकृतिक चित्र हैं। आज शब्दों के चित्र भी लिये जाते हैं। आज उसकी गति का पता है आदि बातें शब्द के गुण होने का प्रत्यक्ष खंडन है। इसी लिये जैन शास्त्रों में 'शब्दवर्गणा' कहते हैं।

तथा—आपके माने हुये वैशेषिक दर्शन में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है। इस लिये वेदान्त मे इस को 'अनीश्वरवादियों' की श्रेणी मे रखा है।

धर्म द्रव्य

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ॥
यजुर्वेद अध्याय ३१—३,

इस मन्त्र का भाष्य करते हुये श्री स्वामी जी महाराज लिखते हैं "कि इस परमेश्वर के सब पृथिवी आदि चराचर जगत एक अंश हैं" और इस जगत-स्रष्टा का अंश नाश रहित महिमा-द्योतनात्मक अपने स्वरूप में है। अभिप्राय यह है कि वेदानुसार यह सम्पूर्ण संसार ईश्वर के एक भाग में है तथा तीन भाग ईश्वर के ऐसे हैं जिसमे जगत आदि कुछ भी नहीं है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब परमाणु में क्रिया करनेकी शक्ति है तथा क्रियाका निमित्त कारण ईश्वर भी उपस्थित है फिर परमाणु इस ईश्वर के अंश से आगे क्यों नहीं जाता। क्या ईश्वर उनको आगे जाने से रोकता है? यदि ऐसी बात है तोभी यह शंका रहती है कि ईश्वर ऐसा क्यों करता है? क्या ईश्वर का इसमें कुछ स्वार्थ है? इत्यादि अनेक प्रश्नोंका उत्तर वैदिक साहित्य कुछभी नहीं दे सकता। जैनदर्शन

ने इस विश्वके सीमित होनेका कारण बताया है और वह युक्तियुक्त बताया है वह कहता है कि इस जगत की सीमा का कारण धर्म्मद्रव्य है। अर्थात धर्म्मद्रव्य इस लोककाश मे ही व्यापक है अत: परमाणु भी वहीं तक गति कर सकता है। क्योंकि जैनदर्शन ने गति-निमित्त कारण धर्म्मद्रव्य को माना है। अत: निमित्तकारण के बिना शक्ति रहते भी परमाणु का गति करना असम्भव है। यह जैनसिद्धान्त है, ऐसी अनेक समस्याओं का हल जैनदर्शन से हो सकता है। यही अवस्था अधर्म्म-द्रव्य को नहीं मानने से होगी।

ऐसी स्थिति मे स्थिति का कुछ भी कारण आप न मान सकोगे। यदि दोनों विरुद्ध बातों का (क्रिया तथा स्थिति) का एक ही निमित्त माना जावे तो ठीक नहीं क्योंकि दोनों का एक में स्वभाव मानना गलत है। फिर तो जड़ के अन्दर भी चैतन्यगुण मानना पड़ेगा। अत: जैन दर्शन पृथक २ निमित्त कारण मानता है।

स्याद्वाद

पृ० ४२४ में लिखा है कि "अब जो बौद्ध जैन लोग सप्तभंगी और स्याद्वाद मानते हैं सो यह 'सन्घट' इसको प्रथम भंग कहते हैं क्योंकि यह अपनी वर्तमानता से युक्त अर्थात् घडा है।

इसने अभाव का विरोध किया है। दूसरा भंग "असन् घटः" घडा नहीं है प्रथम घट के भाव से है, घड़े के असद्भाव से दूसरा भंग है। तीसरा भंग यह है कि "सन्नसन्न घट:" जैसे अघट: पट: दूसरे पटके अभाव की अपेक्षा अपने मे होने से घट अघट कहाता है युगपत उसकी दो सत्ता अर्थात घट और अघट भी है।" इत्यादि—

स्याद्वाद का स्वरूप लिखकर आपने समीक्षा भी की है आप लिखते हैं कि 'यह कथन एक अन्योन्याभाव से साधर्म्य वैधर्म्य में चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरण को छोड़कर कठिन जाल रचना केवल अज्ञानियों को फसाने के लिये होता है।' आदि

उत्तर—हमे अत्यन्त खेद के साथ लिखना पड़ता है कि श्री स्वामीजी महाराज न मालूम किस आधार से 'सन्घट:' इसको प्रथम भंग कहते हैं इत्यादि लेख लिख दिया। संभव है 'स्याद्' इसको क्रिया समझ लिया हो। यदि ऐसा है तो हम कह नहीं सकते। हम तो इतना कहते

हैं कि 'स्यात्' यह 'अव्यय' है इसका अर्थ 'अपेक्षा' है। हम यदि सक्षेप में स्याद्वाद का कथन करें तो यों कह सकते हैं कि "प्रामाणिक अनेक दृष्टियों के एकत्र मिलाने का नाम स्याद्वाद है"। हम इसको और भी स्पष्ट करते हैं। जैनदर्शन ने 'सत्' का लक्षण किया है कि—

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" अर्थात् वस्तुमात्र परिणामी नित्य है। सांख्य और योगशास्त्र तो केवल प्रकृति को ही परिणामी नित्य मानते हैं। परन्तु जैनदर्शन जीव आदि वस्तुमात्र को परिणामी नित्य मानता है।

योगदर्शन विभूतिपाद ३ सूक्त १३ से १५तक मे इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसके व्यास भाष्य का यदि स्वामी जी महाराज अवलोकन कर लेते तो स्याद्वाद के विषय में आपका यह भ्रम दूर हो जाता। वहा पर व्यास जी लिखते हैं कि 'यथा सुवर्णभाजनस्य भित्वाऽन्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्व भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति।' अर्थात् जिस प्रकार सुवर्ण को तोड़ कर कोई अन्य चीज बना ली जाये तो वह उस वस्तु का अन्यथा हुआ न कि सुवर्ण का, सुवर्ण तो वैसा ही रहा। ठीक यही सिद्धांत जैनाचार्यों ने दिया है। अत: जिस प्रकार सुवर्ण आभूषण का परिवर्तन होते हुए भी सुवर्ण ध्रुव रहता है इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ की यही अवस्था है। तथा च जैनशास्त्र वस्तु को अनेक धर्मात्मक मानता है, परन्तु अनेक धर्मों का कथन एक ही शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता अत: इन अनेक धर्मों के कथन करने की जो विधि है उसका नाम स्याद्वाद है।

या प्रश्नाद्विधिपर्युदासभिदया बाधच्युता सप्तधा।
धर्म्मधर्म्ममपेक्ष्य वाक्यरचना नैकात्मके वस्तुनि॥

अर्थात्—प्रश्नवश से तथा भेद विवक्षा से अनेकान्तात्मक वस्तु मे एक एक धर्म्म की अपेक्षा तथा प्रमाणों से अबाधित निर्दोष विधि निषेधात्मक सात प्रकार की शब्द रचना को सप्तभंगी कहते है।

जैनदर्शन में द्रव्य का लक्षण 'गुण और पर्याय वाला' किया है। (गुणपर्ययवद्द्रव्यम्)। पर्याय कहते है 'अवस्था को'-(अवस्था प्रतिक्षण परिवर्तन शील है)। अत: जैनशास्त्र इसका विवेचन नयों द्वारा करता है। नय दो प्रकार का है—एक द्रव्यार्थिक, दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद है—

(१) नैगमनय—इस नय की दृष्टिसे सभी वस्तुऐं मुख्यत: सामान्य और विशेष धर्म्मवाली हैं ।

(२) संग्रह—यह नय वस्तु के सामान्य धर्म्मको ही प्रधानता से स्वीकार करता है इसकी दृष्टि मे विशेष की सत्ता गौण है ।

(३) व्यवहार—यह प्रधानता से विशेष धर्म्म को ही मानता है इसकी दृष्टि में सामान्य की सत्ता गौण है।

दूसरा पर्यायार्थिक नय है इसके चार भेद हैं ।

(१) ऋजुसूत्रनय—यह प्रधानतया वस्तु के वर्तमान रूप को ही स्वीकार करता है । भूत और भविष्य को नहीं ।

(२) शब्दनय—इसकी दृष्टि मे पर्याय वाचक शब्दो मे भेद होने पर भी वाच्यार्थ मे भेद नहीं है । यथा पुरुष मनुष्यादि शब्दों मे भेद है परन्तु इनका वाच्यार्थ एक ही है ।

(३) समभिरूढ—इसकी दृष्टि मे शब्द भेद मे वाच्यार्थ मे भी भेद होता है । यह कहता है पुरुष-और मनुष्य जहा शब्द भिन्न भिन्न है वहां उनका वाच्यार्थ भी व्युत्पत्ति से भिन्न भिन्न है ।

(४) एवंभूत यह कहता है कि मनुष्यको उसी समय मनुष्य कहो जब वह मनन करता हो । यदि वह खाता, सोता हो तो वह मनुष्य नहीं है।

इसके ऊपर हम दूसरी दृष्टिसे भी विचार कर सकते है। यदि संसार के दार्शनिक सिद्धांता का वर्णन करें तो वे उपरोक्त सात भागों में विभक्त हो सकते है।

(१) वह दर्शन जो द्रव्य और पर्याय को सामान्य और विशेष धर्मात्मक मानता हो। जैसे न्याय और वैशेषिक आदि ।

(२) जो पदार्थ सामान्य सत्ता को ही स्वीकार करता हो विशेष को सामान्य मे मानता हो, यथा—वेदान्त दर्शन, साख्य दर्शन ।

(३) जो केवल विशेष धर्म्म को ही मानता हो, यथा—चारवाकादि ।

(४) जो केवल वर्तमान अवस्था को ही मानता हो, भूत भविष्य को नहीं। यथा—बौद्धदर्शन ।

(५) अज्ञेयवाद, (६) अनिर्वचनीयवाद ।

(७) जैनदर्शन—जो सबका समन्वय करता है। यह सब अपनी २ दृष्टि से वस्तु को देखते हैं। परन्तु स्याद्वाद सबकी दृष्टिसे वस्तुको देखता है इसलिये वह कहता है कि इनका यह कहना कि हमारा ही कहना सत्य है बस वह इस 'ही' का खण्डन करता है क्योंकि यह वस्तुको एकान्तात्मक बना देती है। वास्तव में वस्तु अनेकधर्म्मा है। यह संकुचित दृष्टि को दूर करके विशाल दृष्टि प्रदान करता है।

अब हम साधारण दृष्टान्तों द्वारा इसका समर्थन करते हैं। एक बार देहली में एक बड़ा विशाल जुलूस निकल रहा था। उसके अनेक स्थानों पर फोटो लिये गये, किसी ने आगे से लिया, तो किसी ने दक्षिण पार्श्व से, किसी ने वाम पार्श्व से, किसी ने दरीबेकलां मे लिया, तो किसी ने फतेपुरी में लिया, तो किसी ने सदर बाजार मे। दूसरे दिन यह सब लोग कम्पनी बाग में अपने अपने चित्रोंकी प्रशंसा कर रहे थे। प्रशंसा करते करते लड़ाई की नौबत आगई। लोग इनका तमाशा देखने लगे। इतने में एक वृद्ध महानुभाव वहा आगये वे समझदार तथा विद्वान् थे, उन्होंने उनसे झगड़े का कारण पूछा तो सबने अपना अपना फोटो दिखा कर कहा कि देखो जी यह कैसा आदमी है मेरे फोटो को गलत बताता है, इसी प्रकार सबने अपने फोटो की ही प्रशंसा की। इस पर वृद्ध महाशयने कहा कि भाई आप लोग यदि एक जरा सी बात मान लो तो आपका झगड़ा तय हो जाता है। सबने स्वीकार कर लिया तब उसने कहा कि आप जो यह कहते हैं कि मेरा 'ही' फोटो ठीक है ऐसा कहने की बजाय यह कहो कि मेरा 'भी' फोटो ठीक है। उन्हों ने ऐसा मान लिया जनता ने भी वृद्ध महोदय की भूरि भूरि प्रशंसा की। इसी प्रकार सम्पूर्ण साम्प्रदायिक कलहों को मिटाने का एकमात्र साधन है 'स्याद्वाद'। यह पक्षपात हठ और दुराग्रह को हटाकर बुद्धि को निर्मल और विशाल बनाता है। तथा अन्य मत वालो के साथ सहिष्णुता, सहृदयता, तथा सहानुभूति का पाठ पढ़ाता है। एकान्तवाद सकुचित वृत्ति पैदा करता है इसी लिये कहा भी है कि—

स्याद्वादो विद्यते यत्र पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीड़नं किंचिज्जैनधर्म्मः स उच्यते॥

अर्थात् जैन धर्म का स्वरूप ही यह है कि न तो किसी को पीड़ा पहुंचानी, और न पक्षपात करना। क्योंकि वहां स्याद्वाद है। तथा च

एक मेरे मित्र प्रोफेसर ने एक दिन मुझ से यह प्रश्न किया कि आपका स्याद्वाद क्या है ? मैंने कहा प्रातःकाल सैर करने चलेंगे उस समय इस पर विचार करेंगे। प्रातःकाल हम दोनों नदी पर भ्रमण के लिये गये तो उन्हों ने फिर प्रश्न किया। मैंने कहा कि आप यह बतायें कि आप वार हैं या पार, प्रोफैसर साहब ने कहा कि मैं वार हू। उसी स्थानपर कुछ अन्य व्यक्ति भी थे मैंने कहा कि यह व्यक्ति "वार" हैं या "पार" उन्हों ने कहा कि यह भी वार हैं। कुछ व्यक्ति दूसरे किनारे पर थे उनको आपने पार बताया। मैंने कहा चलो उस पार आपके प्रश्नपर विचार किया जायेगा जब हम उस पार गये तो मैंने फिर उनसे पूर्वोक्त प्रश्न किये उन्हों ने वहां भी वही उत्तर दिया। मैंने कहा प्रोफैसर साहब आपने झूठ बोलना कबसे सीख लिया तो आपने फरमाया कि मैंने झूठ नहीं बोला आप कैसे कहते हैं मैंने कहा आप अभी थोड़ी देर पहिले जब उधर खड़े थे तो आप उन व्यक्तियोंको 'वार' कह रहे थे, और इनको 'पार' अब आप इनको तो वार कहते हैं और उनको पार बताते है तथा अपने का वहां भी वार बताते थे और यहां भी वार बताते हैं, तो आपने कहा कि उधर की अपेक्षा से इधर पार है। मैंने कहा कि यह व्यक्ति जो बीच मे खड़ा है, उसकी अपेक्षा से किधर वाले पार हैं और किधर वाले वार ? तो उन्हा ने कहा कि उस व्यक्तिकी अपेक्षासे तो न इधर वाले पार न उधर वाले। अथवा दोनों ही वार हैं या दोनों ही 'पार' मैंने कहा इसी का नाम 'स्याद्वाद' है। इस पर वे कुछ देरके लिये चुप होकर कहने लगे कि आप खुलासा करके समझायें

प्रोफैसर साहबके साथ दो बालक थे, एक था उनका साला तथा एक उनका पुत्र। मैंने पुत्र की ओर संकेत करके कहा प्रो० जी! आप उसके क्या लगते हैं, आपने कहा 'पिता' मैंने कहा कि इसकी माता जी के ? तो आप ने कहा कि 'पति' मैंने पूछा इसके चाचाके ? भाई। इसके दादाजीके उनने कहा 'पुत्र'। अब मैंने दूसरेकी ओर देखकर कहा कि आप इसके क्या लगते हैं तो आपने कहा कि 'बहनोई' मैंने कहा इसके पिता जी के ? तो आपने फरमाया कि 'जमाई'। मैंने कहा कि पिता, पुत्र, भाई, पति, जमाई, बहनोई, आदि आदि सब विरोधी गुण है या नहीं ? आपने कहा कि हैं, मैंने कहा कि उपरोक्त सब गुण आपमें विद्यमान हैं या नहीं ? तो उन्हों ने कहा कि वर्तमान है मैंने कहा कि इसीका नाम स्याद्वाद है। इस पर प्रोफैसर साहब कहने लगे कि आपकी बातों मे आनन्द आता है कृपया इस विषय पर कुछ और प्रकाश डाले।

मैने कहा कि एक समय था जब आप स्कूल में पढ़ते थे उसके पश्चात् आप कालेज में पढ़ते थे उसी समय आप से परिचय हुआ था अब आपको देखते ही हमने पहिचान लिया, अब आप यह बतायें कि क्या आप सचमुच वे ही हैं। आप कहने लगे उस समय मैं पढता था किन्तु अब पढ़ाता हूं। उस समय मेरी आयु २० वर्ष की थी, अब ४० वर्ष की है। उस समय मैं बालक था अब वृद्ध होने को आ गया इत्यादि बातों को देखते हुए तो मैं वह नहीं हूं। मैंने कहा कि इसी का नाम स्याद्वाद है। फिर मैंने कहा कि जिस जल को आप देख रहे हैं क्या आप कह सकते है कि "ठण्डा" ही है इसमे गर्मी बिल्कुल नही है। तो आपने कहा कि गर्मी भी इसमें है। तो मैंने कहा कि इसको हम गर्म भी कह सकते हैं। मैंने कहा कि इसी का नाम स्याद्वाद है। यह विरोधवाद एवं संशयवाद को दूर करके यथाथ बोध कराता है यह एकान्तवाद के मिथ्या अभिमान को चूर चूर करके वस्तु के अनेकान्तात्मक यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है।

प्रोफेसर साहब बड़े खुश होकर कहने लगे मैं आपका बड़ा कृतज्ञ हू मैं अब तक यही समझता था कि हम भारतीय भी इस अपेक्षा (रिलेटीविटी) वाद के लिये "आस टाइन" के ऋणी है। आज मैंने समझा कि हमारे देश में पहले ही ऐसे महापुरुष हो गये है जिन्होंने इस गहन सिद्धांत का आविष्कार किया था। सत्यार्थप्रकाश के ऊट पटाग लेख से मुझे इस विषय में अनेक सन्देह थे। परन्तु अब मैंने जाना कि स्वामी जी ने बिना समझे ही अपनी कलम चलाई है। न मालूम स्वामी जी ने कैसे लिख दिया कि 'यह कथन एक अन्योन्याभाव मे, साधर्म्य मे वैधर्म्य मे चरितार्थ हो सकता है' मालूम नही महाराज ने अन्योन्याभाव को और साधर्म्य वैधर्म्य को कितना समझा था। यह जाल अज्ञानियो को फंसाने के लिये तो नहीं है क्योकि वह तो दर्शन की साधारण बातो को भी नहीं समझते यही कारण है कि वे आपके मिथ्या अर्थोंको तथा मिथ्या सिद्धान्तों को भी सत्य समझते हैं। हा विद्वानो को जालमे फंसानेका जाल कहते तो कुछ संगतभी हो सकता था।

जैन मुनि

जुबां खोलेंगे मुझपर बदसखुन क्या वदशुवारी से (बदजुबानी)
कि मैंने खाक भरदी उनके मुंहमें खाकसारी से

सत्यार्थप्रकाश पृ० ४६१ में लिखा है कि अब जैनसाधुओंकी लीला देखिये विवेकसार पृ० २२८—एक जैनमत का साधु कोशा वेश्यासे भोग करके पश्चात् त्यागी होकर स्वर्ग लोग को गया।

उत्तर—लेखकने जिस साधुका कथन किया है वे जैनसाधु श्री स्थूल भद्र जी हैं, उनकी विद्वत्ता के विषयमे हम इतना ही कह सकते है कि श्री स्थूलभद्र सूर्य थे, श्री स्वामी दयानन्द जी उनके सन्मुख खद्योत के समान थे। यह हम अत्युक्ति नहीं कर रहे है, जिसको विश्वास न हो वह उनके ग्रन्थोंका अध्ययन करके देखे। उनका तप और त्याग इतना ऊंचाथा कि जिसपर भारतवासी अभिमान कर सकता है। जिस कोशा वेश्या का आपने जिकर किया है उसी की साक्षी आपके उसी विवेकसारमे लिखी है आपने उसको अवश्य पढ़ा होगा। उसका कहना है—

कि तीर से आम तोड़ना तथा सुई की नोक पर नाचना कुछ भी दुस्तर नहीं है, दुस्तर कर्म वह है जोकि स्थूलभद्रने किया है। यह १२ वर्ष तक मेरे से भोग भोगता रहा अब यह साधु होगया है, और इसने यहां आकर चातुर्मास किया है मैंने हजारों प्रयत्न इसको लुभाने के लिये किये परन्तु यह पर्वत की तरह अचल तथा सागरकी तरह गम्भीर है। ऐसे महापुरुषों के लिये कविने कहा है—

कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

वह पतित था, परन्तु पतित-पावन का आराधन करके स्वयं पतित-पावन हो गया था। वह कोशा वेश्या जिसने आयु भर पाप किये थे अब उनके सन्मुख खड़ी है हजारों मनुष्यो के सन्मुख अपने पापोंका बखान करके जारजार रो रही है। स्थूलभद्र उसको पुत्री कहकर धैर्य दे रहे हैं। अन्त में वह वेश्या पचाणुव्रत अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह धारण करके सद्गृहस्थ का आदर्श व पवित्र जीवन व्यतीत करती है। जो व्यक्ति ऐसे महापुरुषो पर कीचड़ उछालनेका यत्न करता है, वह कैसा हो सकता है, इसका अनुमान वाचक वृन्द स्वयं करलें।

अरणक व ढंढणमुनि

आगे आप लिखते है कि, "अरणक मुनि चारित्र से चूककर कई वर्ष पर्यन्त दत्त सेठ के घर में विषय भोग करके पश्चात् देवलोक को गया। श्री कृष्ण के पुत्र ढंढण मुनि को स्यालिया उठा लेगया पश्चात् देवता हुआ, (विवेकसार पृ० १०)

उत्तर—पं० हंसराजजी शास्त्री ने स्वामी दयानन्द और जैनधर्म, नामक पुस्तक के पृ० १२६ पर लिखा है कि "इन दोनों बातोंका उल्लेख स्वामी जी के बताये हुये विवेकसार' मे भी नहीं है" यदि ऐसा है तो लेखक पर एक भीषण दोषारोपण है।

अरणक मुनि

अरणक मुनि का बनावटी किस्सा जो सत्यार्थप्रकाश में है वह तो लेखक के अपने भाव हैं, हम तो इतना ही जानते हैं कि अरणक मुनि बाल्यावस्था में ही अपने राजसी भोगों को त्याग कर मुनि बन गया था उससे गरमीकी परिषह नहीं सही गयी, और प्याससे भी व्याकुल था अतः उसने किसी नदी का पानी पी लिया। (यह समझ कर कि इसका प्रायश्चित्त करलूंगा) इस अवस्था में वह एक गृहस्थ के यहां भिक्षा को गया, गृहस्थ को उसपर बड़ी दया आई उसने समझा बुझाकर अपने घर रख लिया। वह गृहस्थ उसको अच्छे अच्छे पदार्थ खिलाता था और उसकी सेवा करता था। वह भी साधु का वेश त्यागकर वहा रहता था अरणक मुनि की माता को जब पता लगा तो वहां आई और उसने पुत्र को निम्न उपदेश दिया, जो सुवर्णाक्षरों मे लिखने योग्य है।

न शक्तो व्रत साधु प्रपत्स्ये अनशनं ततः।
किमु हि स्खलितशीलस्य जीवितेन ममानिशम्॥

वरं प्रवेष्टुं ज्वलित हुताशनं न चापि भग्नं चिरसंचितं व्रतम्।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणो न चापि शीलस्खलितस्य जीवनम्॥

इस परम पूज्या देवीका नाम 'भद्रा' था धन्य है वह देश जिस में ऐसी मातायें उत्पन्न होती हों। मदालसा, कुन्ती, कोशल्या, लक्ष्मण की माता का भारतमें जो स्थान है उनसे इस भद्रा का भी किसी प्रकार स्थान कम नहीं। माता की यह फटकार अरणक सुनकर जख्मी शेर की तरह उठ खड़ा हुआ और पर्वत पर जाकर एक शिला पर तप करने लगा।

भयानक ग्रीष्म ऋतु है, ऊपर से सूर्य प्रचण्ड किरण बाणों को छोड रहा है नीचे से शिला ने भीषण रूप धार लिया है वायु देवता ने भी प्रचण्ड तप्तायमान रूप धारण किया ऐसे समय में एक राजघराने का सुकोमल बालक समाधि निमग्न हुआ पद्मासन से विराजमान है अर्धोन्मीलित नेत्रों में मन्द मुस्का कर मानो सूर्य का उपहास कर रहा है।

शरीर घृत की तरह तप्त हो जाता है, परन्तु मजाल क्या मुस्कानमें जरा भी अन्तर पड़े। अन्त में सूर्य शरमा कर नतमस्तक होकर मुनिको नमस्कार करता है और अस्ताचल की शरण लेता है।

इस प्रकार इस महर्षि ने एकासन से अचल और अडिग महीनों तप किया। ऐसे महापुरुष प्रशंसनीय हैं। तथा जो ऐसी पवित्रात्मा को कलंकित करने का दुस्साहस करे वह निन्दनीय है।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

ढढण मुनि को गीदड ने ले जाकर शायद लेखक के दिमाग में ही रक्खा था। अन्यथा ऐसी बेतुकी बात यह कैसे लिख सकता था। जैन शास्त्रो मे तो उसके चरित्र का जो वर्णन है उसके पठनमात्र से आत्मा शान्त होती है।

आगे आप लिखते है कि (विवेकसार पृ० १५६) जैनमत का साधु लिंगधारी अर्थात् वेशधारी मात्र हो तोभी उसका सत्कार श्रावक लोग करें च हे साधु शुद्धचरित्र हो या अशुद्धचरित्र हो सब पूजनीय है। विवेकसार पृ० १६८) जैनमत का साधु चारित्रहीन हो तो भीअन्यमत के साधु से श्रेष्ठ है। (विवेकसार पृ० १७१) श्रावक लोग जैनमत के साधुओं को चरित्ररहित भ्रष्टाचारी देखें तो भी उनकी सेवा करनी चाहिये। (विवेकसार पृ० २१६) एक चोर ने पांच मुट्ठी लोंचकर चारित्र ग्रहण किया बड़ा कष्ट और पश्चात्ताप किया छठे महीने मे केवल ज्ञान पाकर सिद्ध हो गया।

उत्तर—पृ० १७१ का लेख जिसमें "भ्रष्टाचारी देखें तो भी उनकी सेवा करनी चाहिये" यह शब्द लिखे हैं। उक्त लेख जिसके नीचे हमने लाइन दी है, यह न तो विवेकसार में है और न अन्य किसी स्थान पर। यह लेखक ने गप्प हांकी है।

विवेकसार के पृ० २१६ वाले प्रमाण के लिये इतना ही कथन है कि जिस चोरी को घृणित समझ कर उस चोर ने त्याग किया था लेखक ने उसी को ग्रहण किया है और जिस अनुपम त्याग और तप करके उसने ज्ञान प्राप्त किया था उसको आपने हेय समझा है। धन्य है लेखक महा-

शय की बुद्धि को। श्रीमान् जी ! चोर की तो बात ही क्या है यदि आप भी अपनी कलुषित मनोवृत्तिको त्यागकर चारित्र ग्रहण करते तो आपको भी ज्ञान प्राप्त हो सकता था। यह जैन सिद्धान्त है इसपर जैनों को अभिमान है।

चारित्र

आपकी दो बातें चारित्र-हीन साधु के विषय मे रह गई हैं। जिन अर्थों में चारित्रहीन को आप समझते हैं, इसके लिये तो हमारा यही निवेदन है ऐसे धर्म्म से तथा ऐसे साधुओं से प्रत्येक जैन आज तक अनभिज्ञ है। जिस साधु के विषय मे जरा भी सन्देह मात्र हो जाता है उसको आचार्य से कठोर दण्ड लेना पड़ता है, और यदि वास्तव मे कोई साधु चारित्र-भ्रष्ट हो जाता है तो वह किसी भी अवस्था मे साधु नहीं रह सकता। यही नहीं अपितु जो साधु उसके पाप को छिपाने का प्रयत्न करता है वह मनुष्य भी साधु नही रह सकता है। जैन साधुओंका सुन्दर सुव्यवस्थित प्रबन्ध है। उस प्रबन्ध-आधीन सबको रहना पड़ता है। कोई साधु एकाकी उनशृङ्खल नहीं घूम सकता प्रत्येक साधुको नित्य दो बार अपने जीवनपर दृष्टि डालनी पड़ती है तथा अपनी भूलों को आचार्य या गुरु आदि के सम्मुख कहकर उनसे प्रायश्चित्त लेना पड़ता है यही शास्त्र-मर्यादा है और इसी पर अमल किया जाता है।

यह कारण है कि अन्य साधुओं की अपेक्षा जैन साधुओं का चारित्र आज भी ऊंचा है। इतिहास भी इस का साक्षी है तथा वर्तमान समयमें भी इस की परीक्षा की जा सकती है आज अनेक जैन साधु ग्राम ग्राम मे घूमते हैं वहां उनकी प्रतिष्ठा होती है तथा इनका योग्य सत्कार होता है उसका एक मात्र कारण उनका चरित्रबल है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जैन साधुओं से कोई भूल होती ही नहीं है। तथा अन्य सम्प्रदाय व साधुओं में सभी बुरे हैं। जैन साधु भी मनुष्य हैं मनुष्योचित कमियां उनमें भी हो सकती हैं परन्तु दूसरों की अपेक्षा वे न्यून हैं, क्योंकि इनके नियम और दण्ड बड़े कठोर हैं।

इस ऐतिहासिक सत्य और प्रत्यक्ष के विरुद्ध किसी धर्म्म पर इस प्रकार लांछन लगाना किसी धार्म्मिक पुरुष का कार्य नहीं हो सकता। यह साहस सत्यार्थप्रकाश के लेखक जैसी बलवान आत्मा ही कर सकती

है। रह गया विवेकसार के लिखे का प्रश्न, इसका उत्तर तो हम यही दे सकते हैं कि जिस प्रकार इस मिथ्यार्थप्रकाश का नाम सत्यार्थप्रकाश रख दिया है उसी प्रकार किसी धूर्त ने अविवेकसार का नाम 'विवेकसार' रख कर जनता को धोका दिया है, उसका उत्तरदायित्व जैनसमाज पर कदापि नहीं है।

जैनों को इसी लिये शिक्षा दी गई है कि जैन लोग आगमों को तथा आचार्यों के ग्रन्थों के वचनों को प्रमाण मानें। ऐरे गैरे नत्थू खैरों की बातों पर विश्वास न करें, क्योंकि स्वार्थवश, अथवा राग द्वेष वश हो कर किंवा अपना नया संप्रदाय बनाने के लिये जनता को उलटे मार्ग मे गेर देते हैं। अत: जैनों के लिये पक्षपात-रहित आप्तवाक्य ही प्रमाण हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि जैनागमानुसार चारित्र के बडे विशाल अर्थ लिखे हैं। एक दिगम्बर साधु रात्रि को सोते हुए यदि करवट बदल लेता है तो वह भी दोषी समझा जाता है। जब तक उसको एक करवटसे सोनेका पूर्ण अभ्यास न हो जाय उसको प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि जैनशास्त्रों मे जैन साधुओं केलिये कठिनसे कठिन नियम रखे गये हैं। उन नियमों का किसी भी अवस्था मे भंग होने को चारित्र-हीनता कहते हैं। उन सबके साधक को नित्यप्रति पश्चात्तापादि करके अभ्यासी बनना पडता है। उस अवस्था को भी चारित्र-भ्रष्टावस्था कहा जा सकता है। यदि इन अर्थोंमें विवेकसार मे कुछ लिखा हो तो दूसरी बात है उसको बुरा समझना अथवा उसका उपहास करना भले पुरुषों को शोभा नहीं देता क्योंकि—

> गिरते हैं शह सवार ही मैदाने जंग मे।
> वे तिफ्ल क्या गिरेंगे जो घुटनो के बल चलें॥

श्री कृष्ण और जैन धर्म

"सत्यार्थप्रकाश में आगे उसी पृ० ४६१ मे लिखा है "विवेक सार पृ० १०६ में लिखा है कि श्री कृष्ण तीसरे नरक मे गया।"

(उत्तर) इसका उत्तर अज्ञान तिमिर भास्कर पृ० १५२ पर, श्री आनन्द विजयजी ने इस प्रकार दिया है "जैन मत मे कृष्ण वासुदेव हुआ है जिसको हुये (८६४१२) वर्ष आज तक हुये हैं। वह कृष्ण

अरिष्ट नेमि १२ वें तीर्थंकर का भक्त था। उसने आगे जाकर तीर्थ-कर भी बनना है। परन्तु जिस कृष्ण को ५००० वर्ष हुये हैं, तथा जिसको लोग ईश्वरका 'अवतार' मानते हैं, इस कृष्ण का जिकर जैन शास्त्रों मे किंचितमात्र भी नहीं है।"

जब यह बात है तो जैनग्रन्थो में कृष्णका नाम मात्र आनेसे लोक-प्रसिद्ध श्रीकृष्णको समझ लेना भारी भूल है। एक श्रीकृष्ण का कथन वेदों में भी आता है यथा—

प्रमन्दिने पितुर्मदर्चता, वचो यः कृष्णगर्भानिरहन्नृजिश्विना॥

अर्थ—जिस इन्द्र ने ऋजिश्वा राजा के साथ कृष्ण की गर्भवती स्त्रियों को भी मार डाला था, हम उसी इन्द्र का सख्य प्राप्त करें। यह कृष्ण बड़ा ही दुष्टाचारी था, अपनी प्रजापर अत्याचार करता था, इसी लिये इन्द्र ने इसको इस प्रकार का दण्ड दिया था। अब कोई व्यक्ति यदि इस कृष्ण को और महाभारत के कृष्ण को एक कह दे तो इसके लिये क्या कहा जाये।

इसी प्रकार इतिहास मे अन्य भी अनेक कृष्ण है। जैनग्रन्थो मे जिस कृष्ण का कथन है संभव है वह वही कृष्ण हो जिसका वेद मे कथन आया है। यह तो हुई जैन ग्रन्थो की बात। अब श्रीस्वामीदयानद जी महाराज श्री-कृष्ण के लिये किन शब्दो का प्रयोग करते है जरा उसको भी देख लें। श्री स्वामी जी महाराज ने "वेद-विरुद्ध मतखण्डन" नामक पुस्तक बनाई थी। उसमे वल्लभ मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि—

काले गुण से युक्त, शरीरधारी जन्म मरण वाले श्री कृष्ण को भग-वान कहना भी योग्य नहीं हो सकता। और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करणादि का समर्पण करना अशक्य है........., यदि कहो कि होता ही है तो, मलमूत्रादि, पीड़ा, राग, द्वेष, तथा अधर्म्मों का समर्पण भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे। और मलादिका फल दु:ख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये होवे यही प्रकट न्याय है।

शताब्दी सस्करण भाग २ पृ० ७६६

यहां स्वामी जी ने श्रीकृष्ण को मलमूत्रादि समर्पण का उपदेश देकर तथा उनको (श्रीकृष्ण को) नरक की प्राप्ति को न्याय्य बताकर

जो अपराध किया था उसी अपराध को सत्यार्थप्रकाश का लेखक जैनियों के मत्थे मढना चाहता है। उसने खाई दूसरों के गिराने के लिये खोदी थी, परन्तु उसमें गिर गया आप।

समीचक

यदा यदा मुंचति वाक्यजालं, तदा तदा जातिकुलप्रमाणम्।

वाचकवृन्द विचार कर देखें कि सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने किस प्रकारकी चालाकियों से काम लेकर जैनधर्मको बदनाम करने का प्रयत्न किया है। इस पर भी जब इसको शान्ति प्राप्त न हुई तो आपने समीक्षक का रूप धारण किया है। यथा—(समीक्षक) भला कोई बुद्धिमान पुरुष विचारे कि इनके साधु, गृहस्थ और तीर्थंकर जिनमे बहुत से वेश्यागामी, परस्त्रीगामी, चोर आदि जैनमतस्थ स्वर्ग और मुक्तिको गये, और श्रीकृष्ण आदि महाधार्मिक महात्मा सब नरक को गये, यह कितनी बुरी बात है, प्रत्युत विचार के देखें तो अच्छे पुरुष को जैनियों का संग करना वा उनको देखना भी बुरा है, क्योंकि जो इनका संग करे तो ऐसी ही झूठी झूठी बातें उसके भी हृदय में स्थित हो जायेंगी, क्योंकि इन महाहठी, दुराग्रही, पुरुषों के संग से, सिवाय बुराइयों के कुछ भी पल्ले न पड़ेगा। आदि········ नीचे नोट में लिखा है जो उत्तम जन होगा वह इस के अनुसार जैन मत में कभी न रहेगा। पृ० ४६२

पाठकवृन्द! जिस वेश्याका तथा साधुका यहां जिकर किया है उनके विषय मे प्रथम लिख चुके है जिस समय स्थूलभद्र वेश्या के साथ भोग विलास करते थे उस समय आप साधु नही थे, उस समय राज-मन्त्री के पुत्र थे। इसी प्रकार जिस चोर का कथन किया है वह भी उस समय न साधु था तथा न जैन गृहस्थ ही था। वह एकमात्र चोर था, उसने साधु होकर घोर तप किया उसका फल उसको प्राप्त हुआ।

हम वर्तमान समयके सबसे बड़े राष्ट्रपुरुष महात्मा गान्धीके जीवन चरित्र को देखें तो बालकपन मे तथा जवानी में उनसे अनेक भूलें हुई हैं, आज वे महापुरुष हैं तो कोई यह कह सकता है कि वे उन त्रुटियोंके कारण से महापुरुष बने हैं? ऐसा कहने वाला अवश्य कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है जिसने आत्मा को बेच डाला हो। संसार के प्रत्येक महापुरुष के जीवन मे अनेक त्रुटियां पायेंगे परन्तु उनका बडप्पन यह है कि

वे उन त्रुटियों को छिपाते नहीं हैं बल्कि उनको छोड़ते जाते हैं।

स्वामी दयानन्द जी अपनी त्रुटियों को प्रकाशित करने का साहस न कर सके यही कारण था कि वे सदा अपने जन्म स्थान के विषय में (अनेक प्रकार का आन्दोलन करने पर भी) कुछ कहने से घबराते रहे। वास्तव में यह उनकी कमजोरी और भ्रम था। अस्तु, सत्यार्थप्रकाश के लेखकका इस साधुओंपर कलंक लगाना अपनी कुत्सित मनोवृत्तिका ही परिचायक है। तीर्थकरों के विषय में तो आप कोई उस प्रकार का प्रमाण भी लिख न सके। पुन आपको तीर्थकरों से क्या द्वेष था जो उनका नाम भी वेश्यागामियों में गिना दिया। जो समाज इस पुस्तक को छपाता है तथा इनका प्रचार करता है उसका कर्तव्य है कि इस पापका प्रायश्चित्त करे।

तुम सताने को सता लो, लेकिन इतना सोच लो।
कर न दे मजबूर, कुछ करने को दरदेदिल मुझे॥

रह गया भगवान कृष्णादि का प्रश्न, सो तो उनको गालियां देना, उनके लिये मलमूत्र आदि समर्पण की विधि का उपदेश देना, तथा उन को नरक में भेजने को प्रकट न्याय बताना यह सब तो श्री स्वामी जी महाराज के योग्य थे इन को जैनियों के मत्थे मढने का प्रयत्न करना, 'उलटा चोर कोतवाल को डांटे।' वाली कहावत चरितार्थ करना है।

संसार के सम्पूर्ण मतमतान्तरों की बिना विचारे कौन निन्दा करता है तथा उनके महापुरुषों को गन्दी से गन्दी गालियां देता है, यह किसी से छिपा हुआ नहीं है।

आपने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है कि "जैनियों का संग करना वा उनका देखना भी बुरा है।"

जो इस पुस्तक को अपना धर्म्म पुस्तक मानते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे अपनी आंखोंको खैरबाद कहदें तभी वे इस वैदिक आज्ञाका पालन कर सकेंगे। आपने जो इस संग न करनेका कारण बताया है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक जैनोंकी युक्तियोंसे घबराया हुआ है तभी लेखक कहता है कि "जो इनका संग करे तो ऐसी ही झूठी बातें उसके भी हृदयमें स्थित हो जायेंगी।" यही कारण है आज प्रत्येक भला पुरुष आर्यसमाज से घृणा करता है। हठी, दुराग्रही, बुराइयों का केन्द्र कौन है आज यह बताने की आवश्यता नहीं है। जो उत्तम पुरुष थे उन्हों ने तो समाज से

किनारा करना आरम्भ कर दिया है। अतः इस लेखक की आत्मा को अब तो कुछ आराम मिला होगा।

कुवा बावड़ी

इयं मोक्षफले दाने पात्रापात्रविचारणा।
दयादानं तु सर्वज्ञैः कुत्रापि न निषिध्यते ॥

आज भी जैन लोग भारत के प्रायः सभी देशोंमे रहते है। सभी जगह, उनके बाग हैं, तालाब हैं, बावड़ियां हैं, कुवे हैं, वे लोग गर्मी के दिनों में प्याऊ लगाते हैं आज उनके सैकड़ों औषधालय है जिनमें लाखों व्यक्तियों को धर्मार्थ औषध दी जाती है। उनकी सैकड़ों पाठशालायें वा स्कूल हैं तथा कई कालेज हैं, जो मूर्तिपूजक जैन हैं उनके हजारों मन्दिर हैं उनमें प्रायः कुवें हैं। जो तीर्थस्थान हैं उनमे तालाब आदि सब हैं। यह तो है वर्तमान अवस्था, यदि इतिहासपर दृष्टि डालें तो इसके सैकड़ों प्रमाण इतिहास मे वर्तमान है।

जैनों ने हजारों वर्ष चक्रवर्ती-राज्य किया है, उन्हों ने हजारों युद्ध किये हैं, भारत को तीन बार गुलाम होने से बचाया है। एक खारबेल ने, चन्द्रगुप्त ने तथा राजा सम्प्रतिने। इन घोर युद्धों में लाखों जैनों ने अपनी आहुतियां दी हैं।

अभी मैं लखनऊ से आगे अवध प्रान्त मे बहराइच गया था, वहां जैन राजा सुहेलकी वीरताके ऐतिहासिक स्थान देखे जिनसे किस भारत-वासी का गर्व से सीना नहीं फूल जाता। जब कि तमाम हिन्दु राजाओं को एक यवन सिपहसालार कुचलता चला जा रहा था, उस समय सुहेल ने जो अवध की शान रखी है वह इतिहास में अपनी मिसाल आप ही है इस सुहेलदेव ने लाखों यवनोंको तलवारके घाट उतार कर विजय प्राप्त की है।

किन्तु हायरी हिन्दु कौम ! तू ने उस यवन सिपहसालार को पीर बनाकर पूजा, परन्तु सुहेलदेवका नाम तक भुला दिया। यह सुहेलदेव महाराणा प्रताप तथा शिवाजी से भी बाजी लेगया था इस सुहेल देवने मुसलमानों को अवध पर चढने की वह शिक्षा दी कि उसके पश्चात् किसी बादशाह को अवध पर चढ़ाई करने का साहस ही नहीं हुआ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन राजाओं के कुवे, बावड़ी

तालावादि बनवाये हुये अबतक विद्यमान हैं। यदि इतने पर भी कोई यह कहता है कि जैन कुत्रा, बावडी, आदि नहीं बनवाते या उनके शास्त्रों मे निषेध है तो अवश्य वह पुरुष जनता को धोका देना चाहता है, इसके सिवा उसका अन्य क्या अभिप्राय हो सकता है। सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ ४६३ में नन्द मणिकार की एक कथा लिखी है, यथा-विवेकसार पृ० १६६ "इस नगरी मे नन्द मणिकार सेठने बावडी बनवाई उससे धर्म्म भ्रष्ट होकर सोलह महारोग हुये, मरके उसी बावडी में मैंडुका हुआ आदि ' ' ' '

उत्तर—यहतो ठीक है कि नन्द मणिकारने बावडी-बनवाई. उसको रोग हुये तथा वह मरकर उसी बावडी मे मेढक भी हुआ। परन्तु यहा लेखकने "उससे धर्म्मभ्रष्ट होकर" इन शब्दोंको अपनी तरफसे लिखकर बड़ी चालाकी से अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। यह इसी प्रकार की बात है जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि स्वामी जो धर्म्म का कार्य करते थे, उसी के फल स्वरूप अन्त मे उनके शरीर मे फोड़े फुंसी आदि निकले तथा अत्यन्त कष्ट पाया आदि। ऐसी बात वही कह सकता है जिस को धर्म्म से अत्यन्त घृणा हो तथा दूसरों को भी घृणा दिलाना चाहता हो। यही बात सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने कही है। हम इस ही कथा को संक्षेप से लिखते हैं। ताकि पाठक वृन्द असलीयतका पता लगा सकें। ज्ञाता सूत्र के १२ वें अध्ययन मे यह कथा है।

नन्द मणिकार सेठ ने एक वार तीन दिनका उपवास (व्रत) किया उसमे वह प्यास से व्याकुल हुआ यह चिन्तन करने लगा कि राजा श्रेणिक ने अनेक तालाब आदि बनवा रखे है, उसमे जनता स्नानादि करके तथा पानी पीकर आनन्द लेती है। यह कार्य बड़ा ही उत्तम है श्रेणिक राजा की आज्ञा लेकर मै भी जनता के सुख के लिये बावडी आदि बनवाऊंगा व्रत करने के पश्चात् वह राजा श्रेणिकके पास गया और बावड़ी आदिकी आज्ञा ले आया। उसने चार चीजे बनवाई. १-बहुत बड़ा पक्का तालाव तथा उसमें स्त्री पुरुषों के स्नानादिका बड़ा सुख सुन्दर प्रबन्ध, २-धर्म्मार्थ बहुत बड़ा हस्पताल, उसमें सब रोगों के पृथक् पृथक् विशेषज्ञ रखे गये थे तथा उसमें प्रत्येक प्रकार के आपरेशन का भी सुप्रबन्ध था। ३-अनाथों वृद्धों व रोगियों के लिये सदाव्रत। ४-व्यायामशाला, इसमें तैल आदिका तथा व्यायाम आदिके सब साधन थे और बड़े बडे पहलवान वहां पर रख लिये गये थे। जितने व्यक्ति

व्यायाम करतेथे उनके लिये खुराक का भी विना मूल्य प्रबन्ध था। वहां लिखा है कि इस कार्य से नन्दमणिकार की कीर्ति दिगन्तव्यापी हो गई। जहां देखो वहीं नन्दमणिकार का यश-गान हो रहा है।

नन्दमणिकार भी उस यशके सुननेका व्यसनी हो गया। वह अपने यश को सुनने के लिये ही इधर उधर भ्रमण करने लगा। अन्त में उस को रोग हो गया परन्तु प्रयत्न करने पर आराम न हुआ। उस समय भी उसको बावड़ी से मोह था, तथा अन्तिम समय में इस मोह ने भयानक रूप धारण कर लिया। इसी मोह के कारण वह मरकर उसी बावड़ी में मेंढक हुआ।

वहां स्पष्ट लिखा है—"पुक्खरिणीये मुच्छन्ते" अर्थात् बावड़ी के मोह के कारण मेंढक बना।

प्रिय पाठकवृन्द! जैनशास्त्र ने यहां यह शिक्षा दी है कि धार्मिक कार्यों को अपना धर्म्म समझ कर करो यश आदिकी इच्छासे मत करो। तथा उसमें आसक्त भी न बनो। गीता का यही एकमात्र सार है। परन्तु गीताको सन्निपातका प्रलाप कहने वाले इस रहस्यको क्या जानें। कितनी सुन्दर उपदेशप्रद उपादेय शिक्षा इस कथा में है, उसको किस भद्दे ढंगसे कथन किया गया है। जैनागमों में तालाब बावड़ी आदिके सुखाने को महान पाप कहा है क्योंकि उनसे लाखों जीवों का उपकार होता है।

आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन में ही है "सरहद तालाब सोस—णिया कम्मे" अर्थात् तालाब, सर, बावडी आदि जलाशयोंको सुखानेका कार्य करना महापाप है। शास्त्रमें तो बावड़ी आदिक सुखाने में पाप बताया है और यह लेखक कहते हैं कि बावड़ी आदि बनाना जैन लोग पाप मानते हैं। धन्य है इस उलटी समझ को जिस मेंढक की कथा पर शंका की है उसी ने सारे सत्यार्थप्रकाश को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। यदि बावड़ी आदि बनवाना जैनधर्म्म के विरुद्ध होता तो श्रेणिक कदापि आज्ञा न देता इस कथाने जैनोंकी पक्षपात रहित दानशीलता, एवं कार्य—कुशलता, विशाल उदारता, देशकालज्ञताका प्रमाण देकर सत्यार्थप्रकाश में जो जैनियों पर पक्षपातादि के दोष लगाये गये हैं उनका मुंहतोड़ उत्तर दिया है। इस पर समीक्षक बन कर जो आपने गालियां दी हैं उनके लिये तो हम इतना कहते हैं कि—

"ददतु ददतु गालिर्गालिमन्तो भवन्तः।

इसी प्रकार की अनेक कथाओं को सत्यार्थप्रकाश में लेखक ने अपनी ओरसे उनको विकृत करके लिखा है, तथाच उनपर अपनी इच्छानुसार समीक्षा भी की है। यदि समीक्षा तर्क युक्ति आदिसे बुद्धिपूर्वक की जाती तब तो कुछ भी कहना नहीं था परन्तु वह इतनी असभ्यता पूर्वक है कि जिसको पढ़कर पाषाण हृदयमें भी वेदना होती है। हम जैनशास्त्रों के विषय में इतना ही कह देते हैं कि जिस पुस्तक में युक्ति व प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध बातें लिखी हों उनको जैनशास्त्र कहना जैनशास्त्र का अपमान करना है।

जैनाचार्य घोषणा करते हैं कि युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध किसी की भी बात मत मानो जो युक्ति और प्रमाण से विरुद्ध बातों को मानते हैं वे अपना मनुष्यत्व खोते हैं। यदि युक्ति, प्रमाण विरुद्ध बातों का नाम ही शास्त्र है तो पागलों की बातों में तथा बच्चों की क्रीड़ा मे और इन शास्त्रों में अन्तर ही क्या है।

अत: युक्ति और प्रमाण विरुद्ध बातों को जैन शास्त्र की बातें कहना जैनशास्त्रों से अनभिज्ञता प्रकट करना है। प्रत्येक जैन ऐसी बात को जिसमें असंभव आदि दोष आते हैं उनको मानना अपना अपमान समझता है, चाहे वे बातें स्वयं जैनाचार्यों ने ही क्यों न कही हों।

असंभव बातें

सत्यार्थप्रकाश के पृ० ४१२ से ४८० तक में जैनज्योतिष तथा मनुष्यों की लम्बी लम्बी आयु पर एवं शरीरों की ऊंचाई आदि पर प्रश्न किये हैं। उन का उत्तर पं० अजितकुमार जी शास्त्री ने सत्यार्थ दर्पण मे दिया है, पाठक वृन्द देख सकते हैं।

यह तो भूगर्भ शास्त्रों से सिद्ध हो चुका है कि पूर्व समय में मनुष्य आदि के शरीर अधिक ऊंचे एवं पुष्ट होते थे। तथा जैन शास्त्रों का कथन बहुत प्राचीन है। यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता, कि पूर्व समय में इन शब्दों के क्या अर्थ थे। हम आपके सन्मुख एक दो उदाहरण देते हैं। यथा लिपि विज्ञान से सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन समय में लिखने का यह वर्तमान नियम नहीं था। पहले समय में जब किसी को एक सौ ग्यारह लिखने होते थे तो वह पहले सौ लिखता था उसके पश्चात् १० और पुन: एक लिखता था अर्थात १००१०१ इसप्रकार

एक सौ ग्यारह लिखता था। इस समय ये एक लाख एक सौ एक समझे जाते हैं। इसी प्रकार कोड़ी का अर्थ बीस भी है और कोटि का अर्थ एक भी है और करोड़ भी है।

इसी प्रकार बम्बई मे सेर पृथक २ वस्तुओ का पृथक २ है। किसी वस्तु का २८ तोले का सेर है तो किसी का ४५ तोले का. किसी का ५० तोले का किसी का ८० तोले का। अभिप्राय यह है कि बीसियों प्रकार के सेर एक शहर मे प्रचलित है।

जब वर्तमान समय मे ही एक "सेर" शब्द के अनेक अर्थ हैं तो अति प्राचीन समय मे इन पारिभाषिक शब्दो के क्या अर्थ थे तथा यह किस किस अपेक्षा से कहा गया है यह बताना आज असंभव सा ही है। सभव है विज्ञान अधिक उन्नति करे और पुरानी पुरानी परिभाषाओं का कुछ ज्ञान प्राप्त हो तो उस समय इनका ठीक ठीक अर्थ ज्ञात हो सके। किन्तु जैनो का यह अटल विश्वास है कि आगम-वचन असत्य नहीं हो सकते क्योंकि असत्य लिखने का कारण राग, द्वेष, अज्ञानादि हैं, तीर्थ-करो मे इनका सर्वथा अभाव था। अत: इन पर असम्भव आदि का दोष लगाना मिथ्या है। यदि सम्भव बातों को देखना हो तो स्वामी जी के वेदभाष्य को पढ़ना चाहिये।

क्या जैन नास्तिक हैं

नास्तिक, काफिर, मिथ्यात्वी, आदि ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरों के लिये करता है। प्रत्येक मुसलमान ईसाई, हिन्दु यहूदी-आदि को तो काफ़िर कहता ही है, अपितु एक मुसलमान दूसरे मुसलमानको भी काफिर कहता है, यथा-शिया सुन्नियोंको काफिर कहते हैं और सुन्नी शिया लोगोंको। इसी प्रकार कादियानीको भी काफ़िर कहा जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी शब्द की अवस्था है। नास्तिक शब्द का भी विचित्र हाल है। सब सनातनी आर्यसमाज व स्वामी दयानन्दजी को नास्तिक कहते हैं तथा आर्यसमाज सबको नास्तिक कहता है। सत्यार्थप्रकाश पृ० ११५ से २१६ तक आठ नास्तिक गिन ये है। उन मे सब दर्शनकारो को नास्तिक लिखा है। यथा—

१— प्रथम नास्तिक शून्य ही एक पदार्थ है सृष्टि के पूर्व शून्य था और आगे शून्य होगा।

२— दूसरा, अभाव से भाव की उत्पत्ति मानता है।

३— तीसरा, कर्म के फल को ईश्वराधीन मानता है।

४— चौथा, कार्य के लिये निमित्तकारण की आवश्यकता को नहीं मानता।

५— पांचवा, सब पदार्थों को अनित्य मानता है।

६— छठा, पांच भूतों के नित्य होने से जगत को नित्य मानता है।

७— सातवां, सब पदार्थों को पृथक् २ मानता है, मूल एक नहीं।

८— आठवां, कहता है कि एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव होने से सब का अभाव है।

इसमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदांत, सांख्य आदि सब को नास्तिक की उपाधि देदी गई है। वेदान्त को पांचवा नास्तिक कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक सम्प्रदाय की तरह आर्य समाजने भी एक शब्द नास्तिक लेलिया है, और अपने घेरे से बाहर के सब व्यक्तियों को वह भी (मुसलमानादि की तरह) नास्तिक कहता है। इसी प्रकार उस को अन्य सब नास्तिक कहते हैं। अर्थात् आर्यसमाज की दृष्टि में सब नास्तिक है, तथा सबकी दृष्टिमें वह नास्तिक है। यही अवस्था अन्य मत वालों की है। इन बातों को न भी छोड़ और इस पर तात्विक विचार करें तो भी इन शब्दों में कुछ सार नहीं है। यथा—

वेद निन्दक

मनु कहते हैं कि (नास्तिको वेदनिन्दकः) अर्थात् जो वेदकी निन्दा करता है वह नास्तिक है। अब विचार यह उत्पन्न होता है कि वेद क्या हैं तथा उन की निन्दा क्या है ?

सनातन धर्म्म के अनुसार वेदों की ११३१ शाखायें तथा ब्राह्मणादि सम्पूर्ण ग्रन्थ वेद हैं, और स्वामी जी केवल चार शाखाओं को वेद मानते हैं। तब ११२७ शाखाओंको तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद नहीं मानने रूप निन्दा करने से स्वामी जी प्रथम श्रेणी के नास्तिक सिद्ध होते हैं। क्यों कि नास्तिक· नास्ति मतिर्यस्य। इसके अनुसार ब्राह्मणादि ग्रन्थ वेद नहीं हैं ऐसी बुद्धि वाला नास्तिक है। यदि चार शाखाओं को ही वेद मान लें तो सभी वेदानुयायी नास्तिक ठहरते हैं। क्योंकि पूर्व के

आचार्य अथर्ववेद को तो वेद ही नहीं मानते वे तो तीन ही वेद स्वीकार करते हैं, मनुस्मृति भी उस सम्प्रदाय की है।

तीनों वेदों में भी यजुर्वेदी, सामवेद की निन्दा करते हैं तथा सामवेदी यजुर्वेद की। जैसे कि मनुस्मृति मे ही सामवेद की निन्दा की है।

सामवेदः स्मृतः पित्र्यः तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥अ० ४ ॥ १२४

सामवेद की ध्वनि तक को अपवित्र माना है। परन्तु गीता के अ० १० में "वेदानां सामवेदोऽस्मि" कहकर अन्य वेदों से सामवेद की श्रेष्ठता दिखलाई है। तो ये एक दूसरे की निन्दा के कारण स्वयं नास्तिक बनते हैं।

गीता और वेद

गीता अध्याय ८ श्लोक २६ मे "शुक्ल-कृष्ण-गती ह्येते" मे दो गतियो का कथन किया है। आगे लिखा है—"वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव" अर्थात् वेदो मे (वेदादि पढ़न मे) तप, दानादि मे जो पुण्य कहा है योगी उन सबको जानकर (इनकी निस्सारता को जानकर) वह इनका उल्लंघन कर जाता है। यहां वेदादि के पठन को भी कृष्णमार्ग कहा है तथा अध्याय ११ मे "नाहं वेदैर्न तपसा" कहकर वेदों की गौणता दिखाई है। और अध्याय १५ के प्रारम्भ मे ही वेदो को ससार रूपी वृक्ष के पत्ते बताकर वेदो को संसार की शोभा मात्र अथवा ससार को बढाने वाले कहा है। तथाच अ० ९ मे "त्रैविद्या मां सोमपाः" कहकर तीनों वेदों का फल स्वर्ग कहा है तथा जब पुण्य समाप्त हो जाते हैं तो वहां से वापिस भी आ जाता है, कहकर वेदो को मुक्ति के अनुपयुक्त कहा है।

तथा अध्याय २ मे—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२ ॥

अर्थात्—हे अर्जुन! जो वेदवाद में रत है, वे स्वर्गादि से आगे मुक्ति आदि को नहीं मानते, वे अविवेकी जन लुभानेवाली जनरंजन के लिये विस्तारपूर्वक संसार मे फंसाने वाली शोभायमान वाणी बोलते हैं। अतः हे अर्जुन! "त्रैगुण्या विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।" हे अर्जुन ससार मे बांध कर रखने के लिये वेद तीन गुण रूपी रस्सी है, तू

इससे मुक्ति पाकर त्रिगुणातीत हो जा। आगे कहा है कि—

"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।"

हे अर्जुन! जब अनेक श्रुतियों से (परस्पर विरुद्ध वेदमन्त्रों के सुनने से) विचलित हुई बुद्धि परमात्मा (शुद्धात्मा) के स्वरूप में अचल ठहर जायगी, तब तू समत्व रूप योग प्राप्त होगा।" गीता के उपरोक्त शब्द इतने स्पष्ट हैं कि उनपर प्रकाश डालनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। यही कारण था कि स्वामी दयानन्दजी गीता को त्रिदोषज सन्निपात का प्रलाप कहते थे। अभिप्राय यह है कि वेद-निन्दक को नास्तिक कहा जाय तो सम्पूर्ण हिन्दू जनता तथा आर्य समाज भी नास्तिकों की श्रेणी में आ जायेंगे।

उपनिषद् और वेद

ऋग्वेद म० १० सू० ४४ मं० ६ लिखा है कि—

"न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुह, मीमैंव ते न्यविशन्त केपयः ॥"

जो यज्ञ रूप नौका पर सवार न हो सके, वे कुकर्मी हैं, ऋणी हैं और नीच अवस्था में ही डूब गये हैं।"

इसका उत्तर उपनिषद्कार ऋषि देते हैं कि—

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा, अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

[मुण्डकोप नि० १

अय वेद! यह तेरी यज्ञ रूप नौका तो पत्थर की नौका है, वह भी जीर्ण शीर्ण है। तेरे जैसे मूर्ख जो इसको कल्याणकारक समझ कर आनन्दित होते हैं, वे इस संसार रूपी सागर में जन्म मरण रूप गोते खाते रहते हैं। इसी उपनिषद् में गीता की तरह ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम-वेद को अपरा (सांसारिक) विद्या कहा है। यथा—

("तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः।") अन्य अनेक स्थानों पर भी ऐसा ही है। अतः उपनिषद्कार भी वेदों को मुक्ति का साधन नहीं मानते।

कपिल मुनि और वेद

ऋग्वेद मंत्र १० सू० २७।१६ में लिखा है कि—

"दशानामेकं कपिल समान।"

अर्थात्—दस अंगिरसों में कपिल श्रेष्ठ है। उस कपिल के विषय में महाभारत शांति पर्व अ० २३८ में गाय और कपिल का सम्वाद है। उस समय यज्ञो मे गोवध होता था, गौ ने आकर कपिल मुनि से अपनी रक्षा की प्रार्थना की। इसपर कपिल ने दु:खित हृदय से कहा कि वाह रे वेद! तैंने हिंसा को ही धर्म बना दिया। यही नहीं अपितु उन्होंने अपनी स्पष्ट घोषणा की कि हिंसायुक्त धर्म धर्म नहीं हो सकता चाहे वह वेद ने ही क्यों न कहा हो। उन्होंने इस हिंसक धर्म का तीव्र विरोध प्रचार रूप मे किया था।

प्रतीत होता है कि इसी कारण से ब्राह्मणों ने कपिल को नास्तिक की उपाधि दी थी। अभिप्राय यह है कि जिस कपिल मुनि की वेद स्तुति करता है वही वेद का विरोधी है। स्वयं वेद मे ही एक ऋषि दूसरे ऋषि का विरोध करता है।* फिर किस ऋषि को आस्तिक माना जाय और किसको नास्तिक माना जाय।

सब दार्शनिकोंको सत्यार्थप्रकाश ने नास्तिक कह ही दिया। पुराण-कारों को तो वह गाली तक देकर भी सन्तुष्ट नही होता। जब यह बात है तो जैनो को नास्तिक लिखना क्या कठिन था। तैत्तरीय ब्राह्मण ३।३।६।११ मे वेदोंको प्रजापतिके बाल बताया है। अर्थात् बाल की तरह वेद व्यर्थ है।

(प्रजापते र्वा एतानि श्मश्रूणि यद्वेद:)

इसी लिये ही कौत्स्य ऋषि वेद मन्त्रो को निरर्थक मानता था।

—निरुक्त

निन्दा

सत्यार्थप्रकाश पृ० ६५ मे निन्दा स्तुति के विषय मे लिखा है कि गुणोमे दोष, दोषोंमे गुण लगाना वह निन्दा है और गुणोंमे गुण दोषों मे दोषो का कथन करना स्तुति कहाती है" अर्थात्—

मिथ्या भाषणका नाम निन्दा और सत्यभाषणका नाम स्तुति है। यदि इस कसौटी पर कस के देखा जाय तो श्री स्वामी दयानन्द जी और आर्यसमाज ही प्रथम श्रेणी के नास्तिक ठहरते हैं। क्योंकि इन्होंने ही वेदों की घोर निन्दा की है।

---

* इसका विवेचन 'वेद ईश्वरीय ज्ञान' में करेंगे।

१—वेद अनेक ऋषियों के बनाये हुये हैं। इस गुण को छिपाकर ये वेदों को ईश्वरीय ज्ञान अथवा ईश्वर-रचित या नित्य कहकर निन्दा करते हैं।

२—वेदों में इतिहास है, यह कहते हैं कि इतिहास नहीं है।

३—वेदों में मृतक श्राद्ध का वर्णन है, ये कहते हैं, कि नहीं है।

४—वेदों में स्वर्ग, नरक आदि लोक विशेष माने हैं, ये विरोध करते है।

५—वेद कहता है मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती, ये कहते हैं होती है

६—वेद में अद्वैतवाद का मंडन है, ये उसे नास्तिक कहते हैं।

७—वेद कहता है जगत नित्य है, ये कहते हैं अनित्य है।

८—वेदोंमें, यज्ञादि मे मांस व शराब का विधान है, ये कहते हैं कि निषेध है।

९—वेदों में पुनरुक्त, परस्पर विरुद्ध, असम्भव, व्यर्थ आदि अनेक दोष हैं। ये कहते है कि नहीं हैं।

१०—वेदों में अनेक देवतावाद है, ये कहते हैं नहीं है।

इस प्रकार से श्री स्वामी दयानन्द जी व आर्यसमाज वेदो के निन्दक ही नहीं अपितु महान अमित्र भी हैं, क्योंकि उन्होंने वेदों की आवाज दबाकर उनसे बलात अपनी बातें कहलानेका प्रयत्न किया है। इस प्रकार येही वेदनिन्दक ठहरे, और सनातनधर्मी और जैन आदि आस्तिक ठहरे, क्योंकि वे तो वेदों में जो गुण हैं उन्हीं गुणों को कह कर वेदोंकी स्तुति करते हैं।

ईश्वर

हकीकत हम खुदा की जानते हैं,
है दिल बहलाने का अच्छा तरीका।

संसार में जितने मत हैं उतने ही ईश्वर हैं, यह बात तो प्रत्यक्ष है, परन्तु यदि यह कहा जाय कि जितने मनुष्य हैं उतने ही ईश्वर हैं तो भी अत्युक्ति न होगी। विद्वानों का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि

'दुनियां को ईश्वर ने नहीं बनाया अपितु दुनियां ने ईश्वर का निर्माण किया है।'' जैसी जिसकी रुचि थी, विद्या थी बुद्धि थी उसने वैसे ही बना दिये। जो गोरे थे उनका ईश्वर गोरे वर्ण का और जो काले थे उनका कृष्ण वर्ण का ईश्वर।

इसी प्रकार काशी का ईश्वर अन्य तथा जगन्नाथ का अन्य है। कहां तक कहें लोगों ने अपने अपने मुहल्लों के पृथक पृथक ईश्वर बना रक्खे हैं। अपने २ मन्दिरों के तथा मस्जिदों के व गिरजाघरों के जुदे जुदे खुदा बना रक्खे हैं। इस प्रकार हजारों व लाखों ईश्वर तो यहां पहले ही वर्तमान थे। स्वामी दयानन्द जी ने एक नवीन ईश्वर का और निर्माण कर डाला। अब कौन से ईश्वर को मानने से मनुष्य आस्तिक होता है यह भी एक बड़ी जटिल समस्या है।

श्री स्वामी दयानन्द जी को भी अपनी इस भूल का अनुभव तो हुआ, परन्तु बाद में हुआ। आपने स्वामी कल्याणानन्द को पत्र लिखा था कि "जिस ईश्वरको सर्वमान्य कोई व्याख्या ही न हो उसका बहिष्कार तो स्वयं हो जाता है।"

अभिप्राय यह है कि यदि ईश्वर को नहीं मानने से नास्तिक होता है तो भी सब मनुष्य नास्तिक कक्षा में आ जायेंगे। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इन असख्यों ईश्वरो को नहीं मान सकता। एक प्रकार के ईश्वर के मानने से बाकी के ईश्वरो से मुन्किर होना पड़ता है। अतः एक दूसरे के ईश्वर का विरोध करने के कारण सब ईश्वर—विरोधी हुये। ईश्वर-विरोधी होना आपके कथनानुसार नास्तिकता है, अतः सब मानव समाज ही नास्तिक सिद्ध होते हैं।❋

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का स्थान
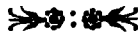
(ले०—श्री हरिसत्य भट्टाचार्य B. A. B. L.)

अतीत के दुर्भेद्य अन्धकार में जितने भी तथ्य मौजूद हैं उनके प्रकट करनेके पक्ष में जो भी प्रयत्न आजतक तत्वविद्गण करते आये हैं

❋ ईश्वर विषयक विशेष विवेचन 'ईश्वर जगतकर्ता' प्रकरण में देखें।

वे सब प्रशसा के योग्य होते हुए भी कभी कभी जिन घटना-समूहों या सामाजिक विषयोंका काल निरूपण अङ्कपात-द्वारा (अर्थात् ईसवीसन्के पहले के हैं या उसके अन्तर्गत) नहीं किया जा सकता, उन्हें निरूपण करने के प्रसंग में प्रायः देखा जाता है कि विद्वद्गण बडे भ्रममे पड़ जाया करते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति सबसे पूर्व किस समय युक्तिचालित समालोचना अवतरित हुई थी, विद्वान लोग प्राय: उस समय को निर्दिष्टरूप मे निरूपण करते हुये आपसमे वादानुवाद ही नहीं करते किन्तु लड तक बैठते हैं। वैदिक क्रियाकाण्ड और बहुदेववाद के समीप कहीं कहीं जो जो अध्यात्मवाद और तत्व-विचार देखने मे आता है, अनेक पण्डितों के मतानुसार वह परवर्ती काल का प्रक्षेप-मात्र है। किन्तु तत्व-विचार क्रियाकांड के साथ एकत्र नही रह सकता, तत्व-विचार किस निर्दिष्ट निरूपण-योरप समय मे अथवा किस शुभ मुहूर्त मे सहसा उठ खड़ा हुआ, ऐसी बातोंके सोचने का कोई भी हेतु नहीं है। जैन-धर्म पहले का है या बौद्ध-धर्म, इस विषय मे बड़ा झगड़ा या वाद-विसंवाद चल रहा है। किसी २ पण्डित के मत से जैनधर्म की उत्पत्ति बौद्ध धर्म से है, पक्षान्तरमे किसी किसी के मत मे जैनधर्म बौद्धधर्म से भी प्राचीन है। इन वाद विसंवादोंके मध्य जो सत्यान्वेषण की क्रिया वर्तमान है वह अवश्य ही सम्मान के योग्य है। नि:संदेह जहां तक अनुमान है, इन सब तर्कोंका अधिक अंश बहुधा रुचिकर होते हुये भी केवल मूल्यहीन ही नहीं किन्तु किसी भी देशके तत्व-चिन्ता-विकाश के क्रम के विषय में उत्पन्न हुई भ्रान्त धारणा के ऊपर अवलम्बित जान पड़ता है।

कारण, विचारवृत्ति जब मनुष्य प्रकृति का एक विशिष्ट लक्षण माना जा चुका है, जब यह नि:संदेह कहा जा सकता है कि, मनुष्यसमाज में चिरकालसे कुछ न कुछ अध्यात्मचिन्ता या तत्व विचार होता ही चला आ रहा है। यहांतक कि जिस समय समाज अर्थहीन क्रियाकांडके जाल में फंसा हुआ जान पड़ता है उस अवस्थामे भी कुछ अध्यात्म चर्चा बनी ही रहती है। वस्तुत: क्रियाकांडके सम्बन्ध मे ही यह कहा जा सकता है कि क्रियाकांड भी सामाजिक शैशव की सोई हुई मूढ़ता के ऊपर एक प्रकार की आध्यात्मिकताकी अवतारणा है। सम्यक्रूप से परिस्फुट न होनेपर भी समाजकी प्रत्येक अवस्थामे ही एक विचार-वृत्ति प्रचलित नीति-पद्धति को

अतिक्रम करने की तथा ऊंचे से ऊंचे आदर्श की ओर आगे बढ़ने की स्पृहा रूप में सदा बनी ही रहती है। इसीलिये दर्शनों का जन्मकाल निरूपण प्रायः असाध्य हो जाता है. जो लोग भिन्न २ दर्शनों के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं उन लोगों के पहले भी वे ही दर्शन मत बीजरूप में विद्यमान थे, यह कहने में अत्युक्ति न होगी। बौद्ध-मत बुद्ध के द्वारा एवं जैन-मत महावीर से पैदा हुआ है, यह भी एक प्रकार की भ्रान्त धारणा है। इन दोनों महापुरुषों के जन्म ग्रहण से बहुत पहले से बौद्ध तथा जैन शासन के मूल-तत्व-समूह सूत्ररूप मे प्रचलित थे उन तत्व-समूहों को विस्तृत रूप मे प्रकट करके उनकी मधुरता तथा गम्भीरता को सर्व साधारण जनता के समक्ष प्रचार करना अवश्य ही गौरवमय व्रत था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। हमारी समझ में इसके अतिरिक्त उन लोगों ने तो कुछ भी नहीं किया. मूल तत्व दृष्टि से बौद्ध और जैनमत बुद्ध और वर्द्धमान जन्मकाल के बहुत पहले से ही वर्तमान था, अतः उपनिषद् की तरह से दोनों ही मत प्राचीन कहे जा सकते हैं। 'बौद्ध और जैनमत को उपनिषद् के समकालीन होने का कोई निदर्शन नहीं मिल रहा, इसी कारण से इन दोनों मतोंको उपनिषद्की तरह प्राचीन नहीं कहा जा सकता, ऐसी युक्तियां कभी भी समीचीन नहीं हो सकतीं। स्पष्टतया उपनिषदें वेदों के प्रतिकूल नहीं थीं, इसी लिये उनकी शिष्य मण्डली की संख्या सब से अधिक थी, पहले पहल अवैदिक मत समूह किञ्चित् रूप में सन्देह-पूर्ण थे, इसी लिये उन्हें आत्मप्रकाश के लिये बहुत दिनों तक प्रतीक्षा भी करनी पड़ी, किन्तु अध्यात्मवाद के रूप में वे उपनिषद् के समय मे मौजूद थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। चिन्ताशील पुरुषों ने तत्वचर्चा प्रसंग में केवल उपनिषदों के बताये हुए मार्ग को एकमात्र मार्ग नहीं समझा जब कि चिन्ता गति बेरोक थी और तत्वलोचना के फल स्वरूप अवैदिक मार्ग भी आविष्कृत हो चुके थे। ऐसी दशा में अन्यान्य मतवादों की अपेक्षा उपनिषद् मतवाद भी कुछ ऐसा सहज बोध्य नहीं था, कि यह अनुमान किया जा सके कि सब से पहले यही आविष्कृत हुआ था। वैदिक या अवैदिक मतवादों ने यदि एक ही समय में पैदा होकर क्रमशः उत्कर्ष लाभ किया हो तो उनके अन्दर बहुत से तत्व समान भी रह गये होंगे ऐसा अनुमान असंगत नहीं हो सकता। अत एव भारतीय किसी भी विशिष्ट दर्शन के अध्ययन करने के समय भारतवर्ष के अन्यान्य प्रसिद्ध दर्शनों की तुलना की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

वंग देश में जैन दर्शन की अधिक चर्चा या जैसा चाहिये वैसा उसका आदर न होने पर भी यह तो मानना ही पडेगा कि भारतवर्ष के यावतीय दार्शनिक मत-वादों मे इसका एक गौरवमय स्थान अवश्य रहा है। और आज भी है। तत्व विद्या के यावतीय अंग इसमें विद्यमान होने के कारण जैन दर्शन को सम्पूर्ण दर्शन मान लेने मे कोई मत भेद नहीं होना चाहिये। वेदोंमे तर्क विद्या का उपदेश नही है, वैशेषिक कर्माकर्म या धर्माधर्म की शिक्षा नहीं देता, किन्तु जैन दर्शन में न्याय, तत्वविचार, धर्मविचार धर्मनीति, परमात्म तत्व आदि सभी बातें विशद रूप में विद्यमान हैं। जैन दर्शन प्राचीन काल के तत्वानुशीलन का सच-मुच एक अनमोल फल है। क्योंकि जैन दर्शन को यदि छोड़ दिया जाये तो सारे भारतीय दर्शनों की समालोचना अधूरी रह जायेगी, यह अका-ट्य सत्य है।

किस ढंग से जैन दर्शन की आलोचना करनी चाहिये ऊपर बताया जा चुका है हम लोगों की आलोचना तुलना-मूलक हुआ करती है और ऐसी समालोचनायें निम्सन्देह एक कठिन विषय है सुतरां इस प्रकार की आलोचनाओं के लिये जब तक प्राय: सभी भारतीय दर्शनों के सम्बन्ध में पूरी अभिज्ञता या जानकारी न हो सफलता प्राय: असम्भव है। किंतु हम को इस प्रबन्ध में मूलतत्व के विषय में दो चार बातें बतानी हैं। जैन मत के निर्देश के लिये उसके साथ अन्यान्य मतवादों की तुलना नीचे लिखे गये ढग से ही की जा सकती है। वस्तुत: जैमिनीय दर्शन को छोड कर भारतवर्ष के प्राय: खुले या छिपे रूप में वेदोक्त क्रियाकलाप के अंध-विश्वास के प्रति चिह्न पभावापन्न देखे जाते हैं। सच पूछिये तो संसार में प्राय: सर्वत्र अन्ध-विश्वास के प्रति युक्ति वाद के अविराम संग्राम ही को दर्शन के नाम को आख्या दी जा सकती है। वर्तमान प्रबन्ध में हमें भारतीय दर्शन समूहों की इसी दृष्टि कोण से उनके प्रत्येक प्रधान तत्वों की आलोचना करना है। स्मरण रहे भारतीय दर्शन समूहों का जो क्रम विकास इस प्रबन्ध मे दिखलाया जायेगा वह मात्र युक्तिगत Logical है, कालगत Choronological नही।

अनन्त कल्प, अर्थहीन वैदिक क्रियाकाण्डों का पूर्ण प्रतिवाद उपस्थित चार्वाक सूत्रों ही मे प्राय: देखा जाता है। प्रत्येक समाज मे प्रतिवाद करने वाला एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय सदा से चला आ रहा है तदनुसार

प्राचीन वैदिक समाज में भी एक ऐसा सम्प्रदाय अवश्य था। वैदिक क्रियाकांडों पर भाषा में आक्रमण करना किसी समय में भी कठिन बात न थी।

जैन-भूगोलवाद

(ले०—श्री बा० घासीराम जैन एम० एससी० प्रोफे०, भौतिकशास्त्र)

जैन भूगोल में वर्णन किये हुए द्वीप समुद्रों का पता लगाना इतना कठिन हो गया है कि आधुनिक विद्वान, शास्त्रों को पूर्णरूप से न समझ सकने के कारण इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि जैनाचार्यों को भूगोल विषय का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था।

निस्सन्देह इस विद्युत, वायु और बाष्प के युग में जैन भूगोल का जितना अपवाद हुआ है और उसके कारण से जो क्षति पहुंची वह किसी से भी छिपी नहीं। जब कि समाज के बड़े बड़े पण्डितों से भी, प्रकृत विषय का गहरा अभ्यास न होने के कारण इस विषय की अनेक शंकाओं का यथेष्ट उत्तर नहीं दिया जाता तो जैनधर्म के साधारण अभ्यासियों की श्रद्धा यदि डगमगा जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? कोई कोई तो नामसमझी से अथवा द्वेषवश अजानक इस चर्चा की अच्छी मखौल उड़ाया करते हैं। आज हम केवल इस विषय पर अपने विचार प्रगट करना चाहते हैं कि जैन भूगोल के इस विरोध व अवमानता का सम्भवतः क्या कारण विशेष हो सकता है।

विश्व की मूल आकृति तो कदाचित् अपरिवर्तनीय हो किन्तु उसके भिन्न भिन्न अंगों की आकृति में सर्वदा परिवर्तन आया करते हैं। यह परिवर्तन कुछ छोटे मोटे परिवर्तन नहीं किन्तु कभी कभी भयानक हुआ करते हैं। उदाहरणत. भूगर्भ शास्त्रियों को हिमालय पर्वत की चोटी पर वे पदार्थ उपलब्ध हुए हैं जो समुद्र की तली में रहते हैं। जैसे सीप, शङ्ख मछलियों के अस्थिपञ्जर प्रभृति। अतएव इससे यह सिद्ध हो चुका है कि अब से तीन लाख वर्ष पूर्व हिमालय पर्वत समुद्र के गर्भ में था। स्वर्गीय पं० गोपालदास जी बरैया अपनी "जैन जागरफी" नामक पुस्तक में लिखते हैं—

चतुर्थकाल के आदि में इस आर्यखण्ड में उपसागर की उत्पत्ति होती है जो क्रम से चारों तरफ फैलकर आर्यखण्ड के बहुभाग को रोक लेता है वर्तमान के एशिया, योरुप, अफ्रिका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया यह पांचों महाद्वीप इसी आर्यखण्ड मे हैं। उपसागर ने चारो ओर फैलकर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है। केवल हिन्दुस्तान को ही आर्यखण्ड नहीं समझना चाहिये।

अब से लेकर चतुर्थकाल के आदि तक की लगभग वर्षसंख्या १४३ के आगे ६० शून्य लगाने से बनती है। अर्थात् उपसागर की उत्पत्ति से जो भयानक परिवर्तन धरातल पर हुआ उसको इतना लम्बा काल बीत गया, और तब से भी अब तक और छोटे छोटे परिवर्तन भी हुये ही होंगे। जिस भूमि को यह उपसमुद्र घेरे हुए है वहां पहले स्थल था ऐसा पता आधुनिक भूशास्त्र वेत्ताओं ने भी चलाया है जो गौडवाना लैंड-सिद्धान्त Gondwana Land Theory के नामसे प्रसिद्ध है। अभी इस गौडवाना लैंड के सम्बन्ध में जो जो विवाद बृटिश ऐसोशिएशन की भूगर्भ, जन्तु व वनस्पति विज्ञान की सम्मिलित मीटिंग मे हुआ है उसका मुख्य अंश हम पाठकों की जानकारी के लिये उद्धृत करते है। सिद्धान्त इस प्रकार है कि किसी समय मे जिसकी काल गणना शायद अभी तक नहीं की जा सकी, एक ऐसा द्वीप विद्यमान था जो दक्षिणी अमेरिका और अफ्रिका के वर्तमान द्वीपों को जोड़ता था और जहां आज कल दक्षिणी-अटलांटिक महासागर स्थित है। इस खोयेहुए द्वीप को गौडवाना लैंड के नाम से पुकारते है और इससे हमारे उपसागर उत्पत्ति सिद्धान्त की पुष्टि होती है-

"Professor Watson president of the zoology section, treated the question from the biological point of view. He traced certain marked resembleness in the reptile life in each of two existing continents quoting among other examples The case of the decynondon the most characteristic of the snakes of the karroo which was found also in south America, Madagascar, India and Australia. He went on to deduce from the peculiar similarity in the flora reptiles and glacial conditions that there must have been some great equa-

tional contipent between Africa & South America, passible extending to Australia. The Professor mentioned further interesting resemblance in animal Life to bear out goudwana land theory. The long fish, which can live out of water as well as in it, is found in fresh water only is South Africa and South America, the two species being almost indistinguishable Dr. Due Tite (South Africa) declared that former existance of goudwana land was almost in disputable.. ....,,

अर्थात्—प्रोफेसर वाटसन ने प्राणि-विज्ञान की अपेक्षा दृष्टि से विवेचन करते हुए बतलाया कि इन द्वीप महाद्वीपों में पाये जाने वाले कृमियों (Reptiles) मे बड़ी भारी समानता है। उदाहरण स्वरूप कारू का विचित्र साप दक्षिणी अमेरिका मैडागास्कर (अफ्रीका का निकटवर्ती अतर द्वीप) हिन्दुस्तान और आस्ट्रेलिया मे भी पाया जाता है। अत एव उन्होंने इन प्रमाणों द्वारा यह परिणाम निकाला कि दक्षिणी अमेरिका अफ्रिका और सम्भवत: आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ भूमध्यरेखा के निकटवर्ती कोई महाद्वीप अवश्य था जो अब नही रहा। इसी के समर्थन मे एक विशेष प्रकार की मछली का भी बयान किया जो जल के बाहर अथवा भीतर दोनों प्रकार जीवित रहती है। तत्पश्चात् दक्षिण अफ्रीका के डा० डूटेने अनेक प्रमाणों सहित इस बात को स्वीकार किया कि गौंडवाना लैंड की स्थिति के सम्बन्ध मे अब कोई विशेष मतभेद नहीं है।"

समय समय पर और भी अनेक परिवतन हुए हैं यह दिखलाने के लिये "वीणा" वर्ष ३ अङ्क ४ मे प्रकाशित एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिसका हमारे वक्तव्य से विशेष सम्बन्ध है।

"सन १८१४ मे "अटलांटिक" नामी एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमे भारतवर्ष के चार चित्र बनाये गये हैं .. .. पहले नक्शे में ईसा के पूर्व १० लाख से आठ लाख वर्ष तक की स्थिति बताई गई है। उस समय भारत के उत्तर मे समुद्र नहीं था। बहुत दूर अक्षांश ५५ तक धरातल ही था, उसके उपरांत ध्रुव पर्यन्त समुद्र था। (अर्थात्—नौरवे, स्वीडन आदि देश भी विद्यमान न थे। दूसरा नक्शा

ई० पू० ८ लाख से २ लाख वर्ष की स्थिति बतलाता है,.................
चीन, लाशा व हिमालय आदि सब उस समय समुद्र में थे।................
दक्षिण की ओर वर्तमान हिमालय की चोटी का प्रादुर्भाव हो गया था। उसे उस समय भारतीय लोग उत्तर गिरि कहते थे। तीसरा चित्र ई० पू० २ लाख से ५० हजार वर्ष तक की स्थिति को बतलाता है। इस काल में जैसे जैसे समुद्र सूखता गया वैसे २ इस पर हिमपात होता गया जिसे आजकल हिमालय के नाम से पुकारा जाता है . . . . । चौथा चित्र ई० पू० ८० हजार से १५६४ वर्ष पर्यन्त की स्थिति को बतलाता है। इन वर्षों मे समुद्र घटते २ पूर्व अक्षांश ७८.१२ व उत्तर अक्षांश ३८.५३ के प्रदेश मे एक तालाब के रूप मे बतलाया गया है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट विदित है कि आधुनिक भूगोल की प्राचीन विवरण से तुलना करने में अनेक कठिनाइयो का सामना होना अवश्यम्भावी है और सम्भवतः अनेक विषमताओं का कारण हो सकता है। किन्तु यह सोचकर ही सन्तोष न कर लेना चाहिये। इस विषय मे अधिक शोध की आवश्यकता है एक आवश्यकीय बात की ओर हम आप महानुभावों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। जर्मनी में प्रो० किरफल द्वारा इस भूगोल विषय पर एक पुस्तक लिखी गई है, उसी के अन्तगत जैन भूगोल का भी निराकरण किया गया है। इसी पुस्तक के सम्बन्ध मे जर्मनी के डा० शुब्रिंग ने ३० जनवरी सन २८ को देहली मे भाषण देते हुए कहा था—

He who has a thorough knowledge of the structure of the world can not but admire the inward logic and harmony of jain ideas, hand in hand with the refind cosmographical ideas of Jainism goes a high standard of astronomy and mathematics. A history of Indian Astronomy is not conceivable without the famous —सूर्य–प्रज्ञाप्ति।

अर्थात्—'जिसे विश्व–रचना का पूर्णज्ञान है वह जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत विचारों के गूढ़ युक्तित्व की सराहना किये बिना नही रह सकता। विश्व–रचना के सूक्ष्म विचारों के साथ साथ ही जैनो का उच्चकोटि का ज्योतिष व गणित ज्ञान है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र के इतिहास का बिना

प्रसिद्ध ग्रन्थ सूर्य प्रज्ञप्ति के ज्ञान के हो ही नहीं सकता।' यदि वास्तव में यह बात सत्य है, जैसा हम समझते हैं कि है, क्योंकि डाक्टर साहब के शब्द विश्वसनीय नहीं हो सकते तो अवश्य ही हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम Prof. Kirfal की पुस्तक को मंगाकर उस पर विचार करें और अपने ऊपर किये गये आक्षेपों का निराकरण करें।

पुस्तक का पूरा नाम और पता भी हमारे पास मौजूद है मूल्य ३॥ पौंड है। सूर्य-प्रज्ञप्ति भी जर्मनी में अनुवादित हो चुकी है। एक उपयोगी पुस्तक भू-भ्रमणवाद पर और भी प्रकाशित हुई है। Does the Earth rotate" William Edgell"

क्षत्रिय का महत्व
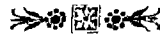
वर्तमान समय मे जैनधर्म के प्रवर्तक २४ तीर्थंकर माने जाते हैं। वे सभी क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए हैं। यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह तीर्थङ्कर क्षत्रिय कुल में ही क्यों उत्पन्न हुए? इसका उत्तर हमें इतिहास से मिलता है। इतिहास का पर्यालोचन करने से पता चलता है कि पूर्व समय मे आत्मविद्या केवल क्षत्रियों के पास थी. ब्राह्मण लोग इससे नितान्त अनभिज्ञ थे, ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की सेवा करके एवं शिष्य बन यह आत्म विद्या प्राप्त की है। चुनांचे बृहदारण्यकोपनिषद् ११ । ३१ में लिखा है कि महाराज जनक का प्रताप इतना फैल गया था कि काशीराज अजातशत्रु ने निराश होकर कहा कि "सचमुच सब लोग यह कहकर भागे जाते हैं कि हमारा रक्षक जनक है"। यह अजातशत्रु स्वयं भी अध्यात्मविद्या का महान् विद्वान और तत्ववेत्ता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि जनक की भेंट ऐसे तीन ब्राह्मणों से हुई। जनक ने उनसे अग्निहोत्र विषयक प्रश्न किया, परन्तु ब्राह्मण उसका ठीक उत्तर न दे सके जनक ने जब उनके उत्तर में भूल बताई तो ब्राह्मण क्रोधित होकर कहने लगे कि इस राजा ने हमारा अपमान किया है। राजा जनक वहां से चले गये। उन ब्राह्मणों में से याज्ञवल्क्य ने उनका पीछा किया और अपनी शंका निवारण की। तभी से राजा जनक ब्राह्मण कहलाने लगे शतपथ (११ । ६ । २१) यही याज्ञवल्क्य ऋषि यजुर्वेद के संकलन

कर्ता तथा प्रसिद्ध महाविद्वान कहे जाते हैं। उपरोक्त गाथा से यही ध्वनित होता है कि क्षत्रिय लोग आत्मविद्याके पारगामी ही नहीं थे अपितु यज्ञ आदि विषयोंके भी अद्वितीय विद्वान थे। जिनसे याज्ञ-वल्क्य जैसे महर्षियोंने भी शिक्षा प्राप्त की थी।

छान्दोग्योपनिषद् ५। ३ मे लिखा है कि एक समय श्वेतकेतु आरुणेय पाञ्चालों की एक सभा में गया तो प्रवाहन जयबलीने जो क्षत्रिय था, उससे कुछ प्रश्न किये। परन्तु वह एक का भी उत्तर न दे सका। उस ने उदास-भाव से घर आकर अपने पितासे उन प्रश्नोंका वृत्तान्त कहा। उसका पिता गौतम भी उन प्रश्नों को न समझ सका, वे दोनो प्रवाहन जयवली के पास गये और उसके शिष्य बनकर उससे शिक्षा प्राप्त की।

इस प्रकार क्षत्रिय जाति संसार मे पराक्रम से प्रख्यात रही है उसी प्रकार अपने अन्य आध्यात्मिक गुणों से भी अग्रगण्य रही है। इसस इस बातको अच्छी तरह पुष्टि होती है "जे कम्मे सूरा ते धम्मे" यानी जो बाह्य पराक्रममे अग्रेसर होते है वे आत्मधर्ममे भी अग्रसर हो सकते हैं।

" जैन धर्म्म पर अजैन विद्वान् "

जैन धर्म्म के विषयमे देश के आम विद्वानोने समय समय पर बड़े ही सुन्दर हृदयोद्गार व्यक्त किये हैं, जो कि सर्व साधारण जनता के जानने योग्य हैं।

भारत के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता सरदार वल्लभभाई पटेल—

जैन धर्म्म पीले वस्त्र पहनने से नही आता। जो इन्द्रियों को जीतना समझता है वही सच्चा जैन हो सकता है। अहिंसा वीर पुरुषों का धर्म्म है, कायरों का नहीं। जैनों को अभिमान होना चाहिये कि भारतस्वातंत्र्य के लिये कांग्रेस उनके मुख्य सिद्धांत का अमल समस्त भारतवासियो स करा रही है। जैनों को झगड़ने की जरूरत नहीं। जैनों को निर्भय हो कर त्याग का अभ्यास करना चाहिये।

भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद—

मैं अपने को धन्य मानता हू कि मुझे महावीर स्वामी के प्रदेश में रहने का सौभाग्य मिलता है। अहिंसा जैनों की विशेष सम्पत्ति है।

"जगत के अन्य किसी भी धर्म्म में अहिंसा सिद्धान्तका प्रतिपादन इतनी सूक्ष्मता और सफलता से नहीं मिलता"

संयुक्त प्रान्त के प्रधानमंत्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त—

"जैन धर्म्ममें सत्य और अहिंसासे ऊंचा और आदर्श नहीं, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि सर्व सिद्धान्तों से उत्तम सिद्धान्त जैन-धर्म्म के है।"

प्रान्तीय कांग्रेस के पूर्व प्रधान श्री मोहनलाल सकसेना—

"हिन्दु धर्म्म जहां सहनशीलता सिखलाता है, सिख धर्म्म जहां बहादुरी सिखलाता है, इस्लाम जहां भ्रातृ भक्ति सिखलाता है, वहां जैन धर्म्म सत्प्रेम, सद्भाव, और अहिंसा सरस व सरल नीतिसे सिखलाता है'

लाला कन्नूमल एम० ए० जज धौलपुर स्टेट—

प्राचीन धर्म्मों में से जैनधर्म्म एक ऐसा धर्म्म है जो उच्च सिद्धांत उत्तम नैतिक नियम और उच्च रीतियों से भरपूर है। अब यह नहीं कहा जाता कि वह बौद्धधर्म की शाखा है। किन्तु यह बहुत प्राचीन और स्वतन्त्र धर्म्म है जिसके सिद्धांत बुद्धके जन्म से पहले चले आते हैं। इसका बड़ा भारी साहित्य जो पवित्र सैद्धान्तिक और लौकिक है; अबतक यूरुपकी दुनियां के लिये एक मुहर लगी किताब है। बहुत ही कम पुस्तकें प्रकट हुई है। यदि वह अमूल्य सिद्धात छप जांय तो विचारों मे एक नया युग खिले और बहुत सभव है कि वर्तमान इतिहास को भी बदलना पड़े।

प्रसिद्ध जर्मन लेखिका भारतीय साहित्य विशारदा डा० चारलोटी क्रोज P.H.D.—

जैनधर्म भारतवर्ष के अति प्राचीन धर्म्मों मे से एक है, जो कि बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है और प्राय: वर्तमान अभिप्राय के अनुसार अति प्राचीन हिन्दुशास्त्र भी पूर्व अवस्थिति का है। इस धम ने एक समय भारतीय धर्मों पर बड़ा प्रभाव डाला था।

हिन्दीके प्रसिद्ध लेखक आचार्य श्री चतुरसेन जी शास्त्री

मैं यह स्वीकार करता हूं कि जैन सिद्धांतों में समाज संगठन की

अपेक्षा आत्मसंस्कार और आत्म-निर्माण पर ही बड़ा भारी और वैज्ञानिक जोर दिया गया है।

निस्सन्देह इस एकांगी बात के कारण ही जैन समाज की वृद्धि में तूफानी बाढ़ नहीं आई, जैसी कि बौद्ध समाज में आई थी। और यह कहना तो व्यर्थ ही है कि बौद्धों को राज्य सत्ताएं प्राप्त हो गई थीं-क्योंकि जैन महाराजाओं की कथाओंसे मसीह की प्रथम शताब्दियों का भारतका इतिहास भरा पड़ा है।

परन्तु मैं इस आश्चर्य-जनक बात पर तो विचार करूंगा ही कि लगभग समान कालमें, समान भावनासे उदय होकर बौद्ध और जैन संस्कृतियां उठीं, बौद्ध संस्कृति तूफान की तरह एशिया भर में फैलकर अति शीघ्र समाप्त हो गई। जैन संस्कृति धीमी चाल से अभी तक चली आ रही है। दोनों संस्कृतियां-आत्मसंस्कार को प्रधान मानती रहीं परन्तु आवश्यकता पड़ने पर जैन और बौद्ध दोनों ही महाराजाओं ने प्रबल युद्ध किया। जिनमें लक्षावधि प्राणियों का हनन हुआ। परन्तु जिस प्रकार महान प्रशांत प्रेम और क्षमाके आचार्य मसीह के विश्वासी यूरुप की महान शक्तियां लोहू की धार बहाने में प्रतिक्षण सन्नद्ध रहती हैं फिर भी वे सब पवित्र और दया क्षमा पूर्ण ईसाई धर्म के विश्वासी हैं। उसी प्रकार जैन और बौद्ध राजाओं की वह परिस्थिति थी।

तब बौद्धों के विनाश का कारण एक ही हो सकता है, कि उन्हों ने न्याय और अधिकार की रक्षा के लिये नहीं, प्रत्युत लिप्सा में मानव रक्त बहाया। इस के विरुद्ध जैन महात्माओं ने संयम और शासन का सामञ्जस्य प्रकट किया। यही कारण है कि—तत्कालीन राजसत्तावाद का विध्वंस होते ही बौद्धों का विनाश हो गया, और जैन समाज एकराष्ट्र की हैसियत से बच गया।

उपेन्द्रनाथ काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ, भिषगाचार्य :—

श्रीमद्भागवत की वर्णना को देखकर मेरा विश्वास है कि क्षत्रिय-वंशज नाभि राजाके पुत्र श्रीमान ऋषभदेव जी राज्यकी लालसा को छोड़ सर्वभूतों को समान देखने वाले सन्यासी बन गये थे। उन्होंने स्वयं सिद्ध होकर निवृत्ति मार्गका उपदेश दिया समदृक् अर्थात् सबको समान देखने वाले ऋषि के पास जाति भेद का प्रश्न ही नहीं उठ सकता है, इस

से सिद्ध होता है कि उस समय में जो लोग उनके उपदेश से निवृत्ति-प्रधान धर्म्म स्वीकार कर चुके थे वे लोग और उनके वंशधर जैनी कहलाने लगे. इसके बाद भी जैनाचार्य्यों के उपदेश से सर्वदा ही अजैनी जैन बनते रहे।

प्रो० शिवपूजन सहाय, अध्यक्ष हिन्दी विभाग
राजेन्द्र कालेज (छपरा बिहार)—

मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि जैनधर्म के सिद्धांत बड़े निर्मल और कल्याणकारी हैं। यह भारत का एक अत्यन्त प्राचीन एवं जगत्प्रसिद्ध धर्म है। मनुष्य की अन्तःशुद्धि के विधान में यह विशेष तत्पर है। यदि इसके सम्यक् चरित्र उपदेशों या आध्यात्मिक शिक्षाओं पर मानव जाति समुचित ध्यान दे तो संसार में अशान्ति ही न रहे।

रामचन्द्र गुप्त एम० एल० ए० (केन्द्रीय)—

जैन धर्म वास्तव में एक कर्तव्य-प्रणाली है। वह मनुष्य को मनुष्य बनने की शिक्षा पहले देता है और इसी शिक्षा के साथ ही वह यह भी निर्देश करता है कि यह मनुष्य शरीर भी एक भार है। एक झंझट है। इसे छोड़ देना, इसे त्याग देना, तथा इसके सम्बन्ध में समूचा परित्याग कर देना ही वास्तविक धर्म है। इस महापन्थ का मुख्य पांच मूल गुणों में सन्निहित है। इन मूल गुणों में पंचमगुण है "अपरिग्रह"।

अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार, नई दिल्ली—

भारतीय सभ्यता और संस्कृति जिन महा-विभूतियों के कारण गौरवशाली और महिमा-मण्डित हुई है, उनमें भगवान महावीरका स्थान अद्वितीय है। भारतीय समाज का स्वरूप और ढांचा बदलने के लिये प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध जिन लोगों ने अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर दिया और अपनी जोरदार आवाज उठाकर जिन्हों ने विधि विधान कर्मकाण्ड प्रधान धर्मके विरुद्ध क्रांतिकी पुण्य पताका फहराई है उनमें भगवान महावीरजी का स्थान अनुपम और अत्युच्च है।

महात्मा शिवव्रतलालजी वम्मन M. A.—

जो जैसा हो उसको वैसा ही देखो। यह अहिंसा की परमज्योति वाली मूर्तियां वेदों की श्रुति "अहिंसा परमो धर्मः" कुछ इन्हीं पाक

बुजुर्गों की जिन्दगी में अमल सूरत अख्त्यार करती हुई नजर आती है। तुम कहां और किन में धर्मात्मा प्राणियोंको तलाश करते हो, इनको देखो इनसे बेहतर तुमको साहबे कमाल तुमको कहां मिलेंगे इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था, इनमें धर्मका कमाल था, ये इन्सानी कमजोरी से बहुत ऊंचे थे। इनका खिताब 'जिन' है, जिन्हों ने मोह मायाको, मन और कायाको जीत लिया था, ये तीर्थंकर हैं और परम हंस हैं। इनमें तमन्ना नहीं थी, इनमें बनावट नहीं थी, जो बात थी साफ साफ थी। तुम कहते हो यह नंगे रहते थे इसमें ऐब क्या है? परम अन्तर्निष्ठ, परमज्ञानी, कुदरतके सच्चे पुत्र, इनको पोशाक की जरूरत कब थी।

सर्वज्ञता

सब से प्रथम हम वैदिक-साहित्य की दृष्टि से सर्वज्ञता पर विचार करते हैं।

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथा तथ्योऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः॥
यजुर्वेद अ० ४०, मन्त्र ८

इस मन्त्र मे मुक्त आत्मा का वर्णन है (स्वामी जी महाराज का अर्थ निरुक्त, व्याकरण, तथा स्वयं वेद के भी विरुद्ध है यह हम पूर्व मुक्ति विषय में सिद्ध कर चुके हैं) इस मन्त्र मे कविः, मनीषी, आदि शब्दों का अर्थ भाष्यकारों ने सर्वज्ञ किया है। तथाथ वेदान्त का एकमात्र सिद्धान्त है कि जीवात्मा परमात्मा ही है। और वह सर्वज्ञादि गुणो से युक्त है।

> सह यो वै परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मुण्डकोपनिषद्,
> वै ब्रह्म भवति यो एवं ब्रह्म, वृहदारण्यक। ४। ४। २५

य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मि इति इदं सर्वं भवति। वृहदा० १। ४। १
ब्रह्मविद् आप्नोति परमं। तैत्रेयो० २। १

उपरोक्त उपनिषदों की श्रुतियों मे स्पष्ट है कि जो आत्मा ब्रह्म को पहचान लेता है वह ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म के सर्वज्ञ होने में विवाद

नहीं है, यहीं तक नहीं अपितु श्रुतियें यह कहती हैं कि "सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति। तै० १। ५, कि वह सर्व पूज्य हो जाता है, सभी देवता उसकी पूजा करते हैं।

दर्शनकार और सर्वज्ञता

वेदान्त दर्शनकार महर्षि व्यास कहते हैं कि—

ज्ञो अत एव वेदान्त, २-३-१८

अर्थात् आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उसका आवरण दूर होने से वह ज्ञान स्वरूप हो जाता है। तथाच 'अतो अनन्तेन यथा हि लिङ्गम्" वेदान्त ३-६-२६. अर्थात् आत्मा और परमात्मा मे वास्तविक भेद न होने से, अविद्या को दूर करके जीवात्मा अनन्त हो जाता है।

" सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म यो वेद निहित गुहायां, परमे व्योम्नि सो अश्नुते सर्वान कामान स ब्राह्मण: विपश्चितेति"।

तैत्रेय उपनिषद् २-१-१

अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान, और अनन्त है, जो कि अपनी आत्मामे निहित (छुपा हुआ) है, जो इसको जानता है वह सद्रूप हो जाता है

"स हि सर्ववित सर्वकर्ता" सांख्यदर्शन, अ० ३-५६, वह मुक्तात्मा सर्वज्ञ तथा सब कुछ करने वाला हो जाता है।

'परिणामत्रयसयमादतीतानागतज्ञानम' योग० अ०, ३-१६, तीन परिणामो के सयम से भूत व भविष्य का ज्ञान हो जाता है। "सत्व पुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्व भावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्व च" योग-दर्शन अ० ३-४८, सत्व पुरुप की अन्यता-ख्याति होने से भी सर्वज्ञता होती है। 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम" योग० अ० २-२५, इस पर महर्षि व्यास जी लिखते है कि—

भूत, भविष्यत, वर्तमान, व्यक्ति और समष्टि का न्यूनाधिक ज्ञान सर्वज्ञता का बीज है। जैसे जैसे यह वृद्धि को प्राप्त होता जाता है, वैसे वैसे ही यह पूर्णज्ञानी होता जाता है, अन्त मे सर्वज्ञ होता है। महर्षि पतञ्जलि इससे भी आगे जाते है कि—

" तदा सर्वावरण-मलापेतस्य ज्ञानस्य आनन्त्याज् ज्ञेयमल्पम" योग० ४-३१, इसपर महर्षि व्यास जी लिखते है कि—"ज्ञानस्य आन-

स्यमज् ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते,यथा आकाशे खद्योत:" । अर्थात् जब सम्पूर्ण आवरणों का नाश हो जाता है तो ज्ञान अनन्त हो जाता है, और ज्ञेय अल्पतम रह जाते हैं, व्यास जी कहते हैं कि यह अन्तर आकाश और खद्योत के समान होता है।

इस प्रकार वेद, उपनिषद्, दर्शनादि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य जीव की सर्वज्ञता को स्वीकार करता है। अत: वैदिक धर्मियो को सर्वज्ञ मानने से कदापि इन्कार नहीं करना चाहिये। सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में लिखा है कि—

"वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दु.ख छूट कर परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कम, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं।" यहां स्पष्ट सर्वज्ञता का समर्थन है।

मनुस्मृति

ऋषयः संयतात्मान: फलमूलानिलाशना: ।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्य सचराचरम् ॥ अ० ११-२३६

अर्थात्—फल, मूल (कन्दादि) और वायु खाकर रहने वाले संयतेन्द्रिय ऋषि तप से अपनी आत्मा को शुद्ध कर, जड़ चेतन मय तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखते हैं। जैन दर्शन में इसी को 'केवल ज्ञान' कहा है तथा केवल ज्ञान का विषय बताया है. "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य"। तत्वार्थ सूत्र। सम्पूर्ण द्रव्य और सम्पूर्ण उसकी अवस्थायें। अत. मनुस्मृतिकार भी आत्मा की सर्वज्ञता को स्वीकार करता है। अत: यह सिद्ध हुआ कि समस्त वैदिक साहित्य आत्मा की सर्वज्ञता को मानता है, पुन: स्वामी जी का इसका विरोध करना, वैदिक-साहित्य का विरोध करना है। मनुस्मृति मे आगे चलकर लिखा है कि—

आत्मैव देवता: सर्वा: सर्वमात्मन्येव स्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषा कर्मयोग शरीरिणाम् ॥ १२-११६

एतमेके वदन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

अर्थात् आत्मा ही सब देव है, अभिप्राय यह है वेदों मे आत्मा का अनेक देवरूप से कथन है, तथा आत्मा ही देहधारियों के कर्मयोग का

निर्माण करता है। अर्थात इसके सिवा कोई अन्य फलदाता नहीं है। इसी आत्मा को कोई ऋषि अग्नि के नाम से कहते हैं, तो अनेक इसी को मनु, प्रजापति के नाम से पुकारते है। कोई इसी आत्मा को प्राण कहते हैं और बहुत से 'इन्द्र' नाम से कहते है। कई इस आत्मा को 'ब्रह्म' और 'शाश्वत' आदि शब्दों द्वारा स्मरण करते है। अभिप्राय यह है कि वेदो मे ऋषियो ने अनेक नामो से इसी आत्मा का वर्णन किया है। श्रीस्वामी जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश मे इस श्लोक को ईश्वर के साथ जोड़ दिया है। प्रतीत होता है कि शीघ्रता से लिखने के कारण पूर्वापर सम्बन्ध का विचार किये बिना उन्होंने इस श्लोक को ईश्वर-परक समझ लिया है। अन्यथा यहा तो स्पष्टरूप मे जीवात्मा का तथा मुक्तात्मा का कथन है। यहां क्या वैदिक साहित्य मे स्वामी जी के मन -कल्पित ईश्वर का कहीं भी कथन नहीं है, अपितु इस जगह मुक्तात्मा को ही ईश्वर माना है। उस को विभु, हिरण्यगर्भ, ब्रह्म-प्रजापति, ब्रह्म-परमात्मा आदि अनेक उपाधियो से विभूषित किया गया है। इसका विशेष वर्णन हम "वैदिक ईश्वरवाद" नामक पुस्तक मे करेंगे।

दयाधर्म्म

सत्यार्थप्रकाश पृ० ४४३ पर प्रकरण रत्नाकर की एक प्राकृत गाथा लिखकर आपने उसका अर्थ निम्न प्रकार किया है।

अरे जीव! एक ही जिनमत, श्रीवीतराग भाषित धर्म्म, संसार-सम्बन्धी जन्म, जरा, मरणादि दुःखो का हरणकर्त्ता है। इसी प्रकार सुदेव और सुगुरू जो भी जैनमत वाले को जानना। इतर जो वीतराग ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्य्यंत वीतराग देवों से भिन्न अन्य हरिहर ब्रह्मादि कुदेव है उनकी अपने कल्याणार्थ जो जीव पूजा करते है वे सब मनुष्य ठगाये गये है। इसका यह भावार्थ है कि जैनमत के सुदेव सुगुरू तथा सुधर्म्म को छोडकर, अन्य कुदेव कुगुरू, तथा कुधर्म्म के सेवन से कुछ लाभ नहीं होता।

तथाच आगे एक गाथा और भी लिखी है। उसका अर्थ भी ऊपर की गाथा के अनुकूल ही किया है, इतना विशेष अर्थ लिखा है—"पंच

अरहन्तादिक परमेष्ठी, तत्सम्बन्धी उनको नमस्कार, यह चार पदार्थ धन्य हैं। अर्थात् श्रेष्ठ हैं दया, क्षमा, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह जैनों का धर्म्म है।"

उत्तर—इन अर्थों का उन गाथाओं के साथ ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसा सूर्य का अन्धकार के साथ है। यदि लेखक महाशय ऊपर गाथा न लिखकर यह लेख लिखते तो बहुत ही उत्तम था। परन्तु प्रतीत होता है कि आपको यह बिमारी थी कि ऊपर श्लोक आदि लिखकर पुनः उसपर गालियां देना आरम्भ कर देना। इन श्लोको के अर्थों की भी आप समीक्षा करते हैं यथा—

(समीक्षा) जब मनुष्यमात्र पर दया नही वह दया न क्षमा, ज्ञान बदले अज्ञान, दर्शन अन्धेर, और चरित्र के बदले भूखा मरना कौन सी अच्छी बात है।

उत्तर—मनुष्यमात्र पर दया नहीं अपितु जैनधर्म्म प्राणी-मात्र पर दया का उपदेश देता है। इसी लिये इस धर्म्म का नाम ही दयाधर्म्म के नाम से प्रसिद्ध है। उपवास आदि तपों को भूखे मरना कह कर भी आपने अपनी अच्छी योग्यता का परिचय दिया है।

आपने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास मे भी बड़े अच्छे शब्दों में इन उपवास रूपी व्रतों का खण्डन किया है। आप लिखते है कि "इस निर्दयी कसाई को लिखते समय कुछ भी दया न आई नहीं तो निर्जला का सजला रखता।" ऐसा प्रतीत होता है कि यह लेखक महोदय अभी अभी कहीं ऐसी जगह से पधारे हैं जहां सभ्यता आदि का नाम निशान भी नहीं था। आश्चर्य तो इस बात का है कि स्वय ही उपवास विधान भी किया है। सस्कार विधि उपनयन सस्कार मे तीन दिन या एकदिन व्रत रखने का विधान है। पृ० ८५,

इन व्रतों से यह आत्मा पवित्र हो सकती है यह तो अब महात्मागांधी ने उपवास करके सिद्ध कर दिया है। तथा स्वामी जी को मथुरा मे एक स्त्री ने स्पर्श कर लिया था तो आप माता माता कहकर एक दम वहां से पहाड़ पर चले गये, वहां आपने निरन्तर तीन दिन और रात निराहार रहकर ईश्वर भजन किया, तब आपकी आत्मा शुद्ध हुई।

आगे पृ० ४५५ पर एक गाथा लिखी है—

जइ न तुगसि तव चरण न पठसि, न गुणसि देसि नो दाणम् ।
ता इत्तियं न सक्किसि जं देवो इक्क अरिहन्तो ॥
प्रकरण भा० २ षष्ठी० सू० २ ।

हे मनुष्य ! जो तू तप चरित्र नहीं कर सकता, न सूत्र पढ सकता है, न प्रकरणादि का विचार कर सकता है 'तो भी जो तू देवता एक अरिहन्त ही हमारे आराधना के योग्य सुगुरु सुधर्म्म, जैनमत मे श्रद्धा रखना सर्वोत्तम बात और उद्धार का कारण है ।'

उत्तर—प्रथम तो गाथा अशुद्ध पुनः उसका अर्थ मनः कल्पित है, हम अत्यन्त नम्रता से पूछना चाहते है कि 'सुगुरु सुधर्म्म, जैनमत में श्रद्धा रखना सर्वोत्तम बात और उद्धार का कारण है ।' आदि शब्द किस शब्द के अर्थ किये गये हैं । इस गाथा का तो सीधा और सरल अर्थ यही है कि "यदि तू न पढ सकता है, न गुण सकता है, न तप कर सकता है, तथा न किसी योग्य सुपात्र को दान ही दे सकता है, तो तेरे से क्या इतना भी नहीं हो कि तू अरिहन्तदेव का स्मरण कर सके ।" हम नहीं समझ सकते कि इस गाथा मे तथा इस अर्थ में किसी बुद्धिमान सज्जन को कुछ कहने का अवकाश मिल सके । एक धर्म्मात्मा व्यक्ति एक ऐसे व्यक्ति को उपदेश दे रहा है । (जो न तो कुछ पढ़ा है न गुणा है, न दान देने की उसकी शक्ति है अथवा पहले सिरे का कजूस व मक्खीचूस है । तपादि मे न उसकी श्रद्धा है न वह कर सकता है ।) कि "भाई यदि उपरोक्त सब कार्य जो धर्म्म के सारभूत है उनको यदि नहीं कर सकता तो भले आदमी दस पांच मिनट कहीं एकान्त मे बैठकर अथवा अपने घर या दुकान पर ही कुछ ईश्वर का नाम ले लिया कर ।" संसार के सभी धर्मों तथा सभ्य समाजों मे यही तरीका उपदेश करने का है । इसका विरोध वही कर सकता है जिसने धर्म्म, न्याय, मानवता और सभ्यता को तिलांजलि दे दी होवे । परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने इस पर भी कलम रूपी कुठार चलाने का साहस किया है वह भी सुन्दर वैदिक भाषा मे है । आप इस प्रकार लिखते है ।

(समीक्षा) यद्यपि दया और क्षमा अच्छी वस्तु है तथापि पक्षपात में

फंमने से 'दया' 'अदया' और 'क्षमा' 'अक्षमा' हो जाती है, इसका प्रयोजन यह है कि किसी जीव को कष्ट न देना यह बात सर्वथा सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि दुष्टों को दण्ड देना भी दया मे गणनीय है, केवल जल छानकर पीना क्षुद्र जन्तुओं को बचाना ही दया नहीं कहाती आदि ..

उत्तर—गाथा कुछ कहती है, आप उसका अर्थ अपनी तरफ से जैसा चाहते हैं वैसा कर लेते है, क्योंकि आप व्याकरणादि के बन्धनोंसे आजाद है। तथा मूल के अनुकूल अर्थ करना आप पाप समझते है। इतना सब होने पर भी आपके हृदय की ज्वाला शांत नहीं होती, इसको शात करने के लिये आप समीक्षक के रूप मे आते हैं। उस समय आप सपूर्ण नियमों का परित्याग कर देते है। भला आप से कोई पूछे कि यह समीक्षा आपने किन शब्दों की की है। आपके अपने कल्पित अर्थों मे भी ऐसे शब्द नहीं है जिनकी यह समीक्षा कहला सके। यदि आप दण्ड देने का नाम भी दया रखते हैं तो आप स्वतन्त्र हैं आनन्द से रक्खें, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है, तथा न उपरोक्त गाथा मे ही इसके ऊपर कुछ लिखा है पुनः आपने यह इतना लंबा चौड़ा लेख लिखकर क्यों अपना तथा पाठकवृन्द का समय नष्ट किया। यह आपको किस लब-कर्ण ने बहका दिया कि 'केवल जल छानकर पीना, क्षुद्र जन्तुओं को बचाना ही दया कहलाती है।' जिससे आपको इसका खण्डन करना पड़ा। क्या आपने जो ऊपर गाथा और उनके अर्थ लिखे है, उनमे कोई ऐसा शब्द है कि जिससे आपके कथन की पुष्टि होती हो ? प्रतीत होता है कि यहां लेखक महोदय मूल गाथा में इस भाव का पाठ मिलाना भूल गये तथा छापने की भूल से उसका अर्थ भी छूट गया। आशा है कि इस भूल को भविष्य मे ठीक कर दिया जावेगा। आगे आपने "विवेकसार" का प्रमाण देकर लिखा है कि जैन लोग ६ यतना मानते हैं। अर्थात् इन ६ कर्मों को जैन लोग कभी न करें। अन्य मत वालों को खाने पीने की चीजें भी न देना, न उनसे अधिक बोलना, न उनका सत्कार करना। आदि, पृ० ४४४।

उत्तर—इस लेख से तो लेखक को प्रसन्न होना चाहिये था, क्योंकि इनको इनका गुरू भाई मिल गया था। इस विवेकसार के लेखक ने भी

किसी नयनांध गुरु से ही शिक्षा प्राप्त की होगी, जो विद्वानों की मूर्तियों को जूते लगवाते थे तथा पुस्तकों को जमना मे डुलवा देते थे। हम तो इतना ही जानते हैं कि जैनागमों में कहीं भी इन यतनाओं का कथन नहीं है। न दिगम्बरों मे, न श्वेताम्बरों मे। जैन लोग सदा से यहीं वसते हैं आजतक हमने एक भी उदाहरण नही सुना कि जिससे आपकी बात का समर्थन होता हो। इसके विपरीत जैनियों के सैकड़ों धर्म्मार्थ औषधालय तथा स्कूल वा पाठशालायें आपके कथन का प्रत्यक्ष विरोध रूप हैं। जब भी कहीं दुर्भिक्ष पड़ता है तो जैन लोग हृदय खोलकर दान देते हैं। अभी बंगाल के लिये ही लाखों रुपये दिये। जैनियों के तीर्थंकरों को गाली तक देता है उसको भी जैनसमाज अपनी उदारता से हजारों रुपया प्रतिवर्ष देता है। अभी हैदराबाद के झगड़े में भी जैनों ने अपनी विशाल उदारता का परिचय दिया था।

पुनः इस प्रकार की बातें कहकर कृतघ्नता का परिचय देना है। अतः इस पर आपने जो समीक्षा लिखी है कि "मथुरा के राजा के नमुची दिवान को जैनियों ने अपना विरोधी समझकर मार डाला, और आलोयण (प्रायश्चित) करके शुद्ध हो गये।"

क्या यह भी दया और क्षमता का नाशक कर्म नहीं है ? आदि—

उत्तर— अभी आप एक पृष्ठ पूर्व ही तो लिख आये हैं कि "दुष्टों को दण्ड देना भी दया में गणनीय है।" मालूम नहीं आपकी स्मरण शक्ति क्यों कमजोर थी कि इतनी देर मे आप अपने कथन को भूल जाते थे, आज की तरह उस समय भी प्रजातन्त्रवाद का प्राबल्य था, अतः जब मन्त्री ने इनके अधिकारों पर प्रहार किया तथा इनकी स्वतन्त्रता छीननी चाही तो किसी मनचले युवक के हृदय में जोश आ गया होगा आप इस गुलामजाति और गुलाम देश में उत्पन्न हुये थे आपको इन आजादी के परवानों के मत का क्या पता। पर-मत का सत्कार किस प्रकार किया जाता है, इसका उदाहरण तो आपने अच्छी प्रकार उपस्थित किया है।

आगे पृ० ४४६ पर एक अन्य गाथा लिखी है—

जिणवर आणा भगं उमग्ग उस्सुत्तले सदे सणऊ ॥

प्रकरण भा० २ षष्ठी शतक ६–११ उन्मार्ग

उत्सूत्र के लेश दिखाने से जो जिनवर अर्थात वीतराग तीर्थंकरों की आज्ञा का भग होता है वह दुःख का हेतु पाप है······· आदि,

(समीक्षक) अपने ही मुख से अपनी प्रशसा करना, धर्म को वक्र कहना, तथा दूसरों की निन्दा करना केवल मूर्खता ही प्रकट करना है, क्योंकि प्रशसा उसी की ठीक है कि जिसकी विद्वान करें। अपने मुख से अपनी प्रशंसा तो चोर भी करते हैं तो क्या वे प्रशसनीय हो सकते हैं इसी प्रकार की इनकी बात है।

उत्तर—आपने ही अपने अर्थाभास में जिनवर का अर्थ वीतराग तीर्थंकर किया है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन एक मुमुक्षु के लिये अवश्यमेव गिराने वाला है। जिस प्रकार एक सैनिक के लिये अपने अफसर की आज्ञा न मानना उसके योग्य नहीं इसी प्रकार मुमुक्षु के लिये भी वीतराग भगवान मोक्षमार्ग के नेता की आज्ञा का पालन करना परम आवश्यक है। इसमें न तो पक्षपात है और न बड़ाई। सम्भव है आपने यहां वीतराग से किसी व्यक्ति विशेष का अभिप्राय समझ लिया हो। यदि ऐसा है तो आपने जैनधर्म्म के समझने मे बड़ी भारी भूल की है। देखो जैनाचार्यों ने कितना स्पष्ट लिखा है।

भवबीजाकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपगता यस्य।

ब्रह्मा, वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥ हेमचन्द्राचार्य।

यानी—ससार की परम्परा के कारणभूत रागद्वेष आदि का जिसने क्षय कर दिया है उसको मैं नमस्कार करता हू नाम से चाहे वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश या जिनेन्द्र कोई भी हो।

आप यदि इन आचार्यों के शास्त्र या जैन मूलागमों को देख लेते तो कभी भी इस प्रकार की मिथ्या धारणाएँ न बनाते। इसका स्याद्वाद सिद्धांत ही निष्पक्षपाती होने के लिये प्रमाण है। यदि कोई पक्षपात करता है, किसी से द्वेष करता है अथवा कुवाक्य कहता है तो वह जैनत्व से गिर जाता है। उसी का नाम जैन शास्त्रों मे मिथ्यात्वी है। अतः आपने जो जैनधर्म्म पर पक्षपात आदि का दोष लगाया है यह आपका हठ वा दुराग्रह है।

आर्य प्रतिनिधि सभा को भेजा हुआ पत्र

[आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब तथा आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पञ्जाब के पास निम्नलिखित पत्र डेरागाजीखान तथा मुलतान से भेजा गया था, रिमाइन्डर भी दिया गया किन्तु उसका अभी तक उत्तर नहीं आया।]

श्री दिगम्बर जैन सभा,
डेरागाजीखान
ता० ६-९-४४

श्रीमान मन्त्री जी !

जयजिनेन्द्र

सेवा में निवेदन है कि वर्तमान सत्यार्थप्रकाश में हमारे तीर्थंकरों, आचार्यों आदि महापुरुषों को गन्दी से गन्दी गालियां दी गई हैं तथा जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा लिखा है और जैनधर्म के विषयमें भ्रम फैलाया गया है। यही नहीं अपितु जैन जाति को बदनाम करने के लिये उस पर झूटे कलङ्क भी लगाये गये हैं।

जैसे कि ग्यारहवें समुल्लास में लिखा है—

कि "जैनियों ने जहां जितने पुस्तक वेद आदि के पाये नष्ट किये, आर्यों पर बहुतसी राजसत्ता भी चलाई और दुःख दिया यज्ञोपवीत आदि ब्रह्मचर्य के नियमों का भी नाश किया। इसी प्रकार आगे चल कर लिखा है कि श्री शंकराचार्यजी को दो जैनोंने उनके शिष्य बनकर अवसर पाकर उनको जहर दे दिया जिससे उनकी क्षुधा मंद हो गई और फोड़े फुंसी होकर ६ मास के भीतर उनका शरीर छूट गया।"

हम अति नम्रता-पूर्वक आपसे जानना चाहते हैं कि यह किस आधार से लिखा गया है, संसार में एक भी पुस्तक ऐसी नहीं है, और न थी जिसमें उपरोक्त बातोंका संकेतमात्र भी प्राप्त हो सके। पुनः किसी जाति को इस प्रकार से कलंकित करने का यत्न करना एक धार्मिक संस्था के लिये घृणास्पद है।

इसी प्रकार बारहवें समुल्लासमें लिखा है कि इन जैनियों के साधु गृहस्थ और तीर्थंकर जिनमें बहुत से वेश्यागामी, परस्त्रीगामी और चोर आदि सब जैन मतस्थ स्वर्ग और मुक्ति को गये हैं। इसी प्रकार आगे

लिखा है बाहरे वा विद्याके शत्रुओ ! तुमने यही विचारा होगा कि हमारे मिथ्या वचनों का कोई खण्डन न करेगा इत्यादि ।

हमारे तीर्थकरों जिनके स्मरण मात्र से पुण्य-बंध मानते हैं उनको रण्डीबाज परस्त्रीगामी और चोर बताना यह हमारे ऊपर घोर अत्याचार है । यह ठीक है कि हम अल्पसंख्यक हैं और अहिंसाधर्म के पालक हैं फिर भी हम मनुष्य हैं और हृदय रखते हैं हमारे युवकों का भी ऐसी बातें सुनकर खून खौलने लगता है और वे ऐसी समाज तथा ऐसे धर्मप्रवर्तक को जिस दृष्टि से देखते हैं उसके विषय मे हम आपको क्या लिखे ।

इस गुलाम देश और दयनीय अवस्था को प्राप्त इस हिन्दुजाति के नाम पर आप से अपील करते हैं कि आप या तो इन बातों का आधार बताएँ कि किस आधार से लिखी गई है । या फिर इसमे संशोधन करने की कृपा करें । अन्यथा आपको यह स्मरण रखना चाहिये कि जो जाति अपने पडोसी अल्पसंख्यकों पर इस प्रकार के जुल्म और अत्याचार करती है उसे आजादी के स्वप्न देखने का क्या हक है ।

इस गुत्थी को सुलझाने के लिये एक सुझाव हम पेश करते हैं, और वह यह है कि किन्हींभी पांच निष्पक्ष विद्वानों का नाम आप हमे लिख कर भेज दें हम उनमें से २-३ को मध्यस्थ चुन लेंगे तथा उनके सामने हम अपने तमाम प्रश्न रख देंगे वे जो भी निर्णय करेंगे हमे मान्य होगा और आपको भी मानना चाहिये ।

इसके अलावा अन्य कोई सुझाव रखेंगे तो हम उस पर सहर्ष विचार करेंगे । हमे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि आर्यसमाज जैसी संस्था इस पर उदार हृदय से विचार करेगी और इस कलह के बीज को सर्वदा के लिये मिटा देगी । उपरोक्त बातें ही ऐसी नहीं है, अपितु पूर्ण बारहवां समुल्लास ऐसी ही बातों से पूर्ण किया गया है । अतः इस पर विचार करना परमावश्यक है, पत्रोत्तर शीघ्र देने की कृपा करें ।

निवेदकः—

सूर्यपाल जैन शास्त्री,

मन्त्री—दि० जैनसभा डेरागाजीखान

* समाप्त *